तत्त्व-चिन्तामणि

[पच्चीस बोल]

भाग १

लेखक

श्री वर्द्ध० स्था० जैन श्रमण संघीय
पंजाब प्रा० मंत्री पं० रत्न श्री शुक्ल चन्द्र जी महाराज

सम्पादक

मुनि सुमन कुमार

प्रकाशक
पूज्य श्री काशीराम स्मृति ग्रन्थमाला
अम्बाला शहर, (पंजाब)

तनिक इधर भी !

किसी दर्शन एवं धर्म शास्त्र के गहन अध्ययन के लिए पूर्वाभ्यास तथा प्राथमिक ज्ञान की अनिवार्यता रहती है (Basic Knowledge) बिना इसके इसमें प्रवेश व ज्ञान से वंचित रहना पड़ता है। इस सब के लिए प्रत्येक दर्शन एवं धर्म की प्राथमिक अभ्यास पुस्तकें होती हैं। जैन दर्शन-धर्म ज्ञान के लिए भी समाज में ऐसी अनेकों पुस्तकें हैं। उनमें से 'पच्चीस बोल' का संग्रह भी अमूल्य है।

यह जैन जगत में सुप्रसिद्ध संग्रह है और है भी अत्यन्त उपयोगी। इसमें जड़ चेतन के मूल एवं उत्तर भेद प्रभेदों का तथा जीवन के गुण दोषों का पूर्ण किन्तु संक्षिप्त ज्ञान संचित है। अर्थात् तत्त्व ज्ञान और क्रिया का निरूपण हुआ है।

इसका संकलन अर्द्धमागधी प्राकृतमिश्रित हिन्दी भाषा में हुआ है। जो कि उस समय प्रायः शास्त्रीय ज्ञान और बोल चाल की भाषा थी। कहीं २ संग्रहणी गाथाओं में भी पच्चीस बोल का उल्लेख मिलता है जिसकी भाषा प्राकृत है। कई प्रतियों में केवल ग्रन्थ नाम और संख्या का ही निर्देश है। आगे चलकर इसकी भाषा और कुछ बोलों में भी परिवर्तन आ गये। इसका कारण था मौखिक ज्ञान का प्रचलन।

सर्व प्रथम यह पच्चीस बोल का थोकड़ा' के नाम से ही विख्यात हुआ 'थोकड़ा शब्द स्तोत्र अथवा संग्रह ग्रंथ का वाचक है। किसी मनस्वी ने शास्त्रीय ज्ञान के सरल अध्ययन के लिए इस संक्षिप्त

दूसरे इस का अधिक उपयोग साधु वर्ग के निम्न स्तर और वैरागी क्षेत्र एवं अशिक्षित लोगों में होता है अतः विस्तृत व्याख्या अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकेगी। फिर निक्षनो के लिए अन्य ग्रंथ उपलब्ध हैं ही।

वैरागी जीवन में मेरी यह अभिलाषा थी कि इस पुस्तक को परिमार्जित भाषा और परिभाषा तथा व्याख्या सहित प्रकाशित किया जाय जिस से मन्दबुद्धि व्यक्ति भी ज्ञानार्जन कर सके। वर्षों के बाद यही बलवतिभावना साकार रूप लेकर आई और प्रस्तुत पुस्तक परिवर्तित, परिवर्द्धित एवं संशोधित रूप लेकर साहित्य जगत् में आई।

इस पुस्तक में मात्र "पच्चीस बोल" ही हैं जो विशुद्ध भाषा उद्धरण स्थल, पाठान्तर परिभाषा व्याख्या तथा टिप्पण आदि सहित है। साथ २ पारिभाषिक शब्दों के (English words) भी दिए हैं।

पुस्तक कितनी सुन्दर बन पड़ी है इसका सम्पादन कहां तक ठोस है पाठक निर्णय करेंगे। मेरा यह प्रथम प्रयास है अनुभव एवं ज्ञान का अभाव स्खलना को जन्म देता है अतएव क्षमार्थी हूं। साथ ही Proof का संशोधन सावधानी पूर्वक होने पर भी दृष्टिदोष से जो (छपते हुए मात्रा अक्षर के टूटने से) अशुद्धियाँ रह गई हो तो सुधार कर पढ़ें।

सम्पादन में जिन ग्रंथों तथा पुस्तकों का आश्रय लिया है और कहीं २ तो उनकी अक्षरशः पंक्तियाँ भी लेनी ? उनके लेखकों का मैं आभारी हूं और साथ ही श्रद्धेय गुरुदेव प० श्री महेन्द्र कुमार जी महाराज का जिनके अनुपम मार्गदर्शन में ही यह सब बन पड़ा है कृतज्ञ हूं।

—मुनि सुमनकुमार

गाहा

नाम —

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११
गइ जाइ कार्ये दिय पज्ज पाणा तणु जोग उवओग कम्मं च ठाणं।
१२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९
इ दिय विसय मिच्छा एयाणि तत्ताया चेव दंडय खलु लेस्साज्झाणं च दिट्ठि
२० २१ २२ २३ २४ २५
छय दव्य रासि गिहत्थवयाणि वाणिवय चेव भंग चरित्त
एयाणि पणवीस पयाणि कहिओ सव्वणुआ भगवया नायपुत्तेण ।२।

संख्या —

४ ५ ६ ५ ६ १० ५ १५ १२ ८ १४
चउ पंच छ पञ्च छय दसण्हं पञ्च पन्नर बारस्स अट्ठ च चउदसं ।
२३ १० ९ ८ २४ ६ ४ ३ ६ २
तेवीस दस नव अट्ठ चउवीस छय चउ तिणहि छय दो वि चेव ॥३॥
१२ ५
बारसवया समणोवासयाण महव्वया पञ्चेव तहा मुणिंदस्स ।
४९
एगोणपन्नास भंग पञ्च चरिय णयव्वा एस्सि अणुक्कम्म भेया ॥४॥

— संग्रहीत

उपरिलिखित चार गाथाओं में पच्चीस बोलका संक्षिप्त नाम कराया है केवल बोल नाम और संख्या मात्र का। पहली दो गाथाओं में बोल नाम, दूसरी (दो गाथाओं में) में संख्या दी गई है।

बोल गान की रीति —

पहली गाथा की पहली पंक्ति का प्रथम पद 'गइ' तथा तीसरी गाथा की पहली पंक्ति का प्रथम पद 'चउ' दोनों मिल कर वाक्य बना गइ-चउ यानि गति चार। पहला बोल गति चार। इसी तरह ऊपर की गाथाओं में से एक एक नीचे की गाथा में से पद लेकर बोल ज्ञान कर लेना चाहिए। सभी पदों के आरम्भ में ऊपर १—२ अंक दिये गए हैं जो ... हैं। साथ ही नीचे की गाथाओं के ऊपर भी 'चउ' पर ४ का अंक दे कर चार का ज्ञान कराया है।

मौखिक ज्ञान की यही रीति है इसके कण्ठस्थ होने पर २५ बोल सुगमता से स्मरण रह सकेंगे।

गति चार

पहला बोल

प्र० गति किसे कहते हैं ?

एक भव से दूसरे भव की प्राप्ति होना गति है। जैसे मनुष्य भव को छोड़ कर देव भव को प्राप्त करना, तो मनुष्य भव छोड़ने से लेकर देवत्व में रहने तक की स्थिति देव गति है।

यह चार प्रकार की है —

१, नरक गति — २ तिर्यंच गति
३ मनुष्य गति — ४ देव गति।

—प्रज्ञा २३ पद

परिभाषा

गति का सामान्य अर्थ तो 'गमन' (जाना) ही है, किन्तु यहाँ विशेष अर्थ (पारिभाषिक) लिया गया है। हां, तो जीव का एक भव को छोड़ कर उसे दूसरे भव की प्राप्ति होना गति है। अथवा गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय (अवस्था विशेष) गति कहलाती है। (A state of existence)

संसार मे जीव अनन्त हैं, कोई सूक्ष्म तो कोई स्थूल, कितने ही मन, युक्त तो बिना मन वाले भी, गर्भज तो कई अगर्भज(सम्मूर्छिम)। अत, उन सबका ज्ञान इस चर्मचक्षु एवं परिमित ज्ञानके स्वामी मनुष्य के लिये असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। अत उनके परिज्ञान को

शास्त्रकारो ने जीवो को चार भागो मे बाट दिया है– नारक तिर्यच मनुष्य और देव। इनके अतिरिक्त और कोई कोटि नहीं, गति नहीं। समस्त प्राणी जगत इन चार गतियो में समाया हुआ है।

नारक–नरक के वासी जीव नारक कहलाते है। इन्हे नैरिया तथा नैरयिक भी कहते हैं (Denigens of hell, hellish) इस पृथ्वी पिण्ड के नीचे जो लोक है, उसे नरक या अधोलोक कहते है।

यह एक प्रकार की पाप भूमि है, मनुष्य लोक म जीव नाना प्रकार के पाप कम कर के यहा आकर जन्म लेता है और नाना यातनाए दुख भोगता है अत इसे दुख भूमि भी कहते हैं।

तिर्यञ्च–पशु पक्षी, जतु, पृथ्वी वनस्पति आदि तियच कहलाते है। अर्थात मनुष्य को छोड कर शेष दिखाई देने वाला जीवन तिर्यंच है। (Animals, creature and plants etc) तिर्यंच अवस्था भी दुख का कारण ही है क्योकि इस में रहते हुए भी जीव को इन्द्रियादि पूरे २ साधन उपलब्ध नही होते और वस भी यह गति पाप जन्य ही मानी गई है। जीव अशुभ कर्म से ही तियच गति मे जन्म लेता है। तियच जीवो के अडतालीस भेद हैं। मूल म ये दो प्रकार के हैं–संज्ञी और असज्ञी।

मनुष्य–यह गति सब गतिया मे श्रेष्ठ मानी गई है, क्यो कि इस में रहते हुए जीव पूर्ण पुरुषार्थ एव पराक्रम से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शेष कार्य तो इस के लिये सुबोध एव सरल ही हैं। इस के तीन सौ तीन भेद हैं, मूल म दो प्रकार है– गभज और समूर्च्छिम। गर्भ से उत्पन्न होने वाले गभज और बिना इस के इतस्तत

अन्य पुदगलो मे पदा होने वाले अन्य मानवाकार जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। "मननात मनुष्य" —मननशील मनुष्य है।

देव—ऊर्ध्व लोक के वासी देव कहलाते हैं अथवा स्वर्ग के निवासी देव कहे जाते हैं (Resident of heavens) जीव की यह अवस्था सुख मूलक है। शुभ कर्म का फल है, मनुष्य की भांति यह भी एक जीवन विशेष ही है।

ये चारो अवस्थाए गति नाम कर्म के उदय से जीव को प्राप्त होती हैं नरक गति नाम कर्म के उदय से नारक, तिर्यच गति नाम कर्म के उदय से तिर्यच आदि बनता है। क्योंकि जन दर्शन जन्म-मरण का कारण कर्म मानता है "कम्म च जाइमरणस्स मूल"

गतियों के कारण—इन चार गतियो के सोलह कारण हैं, प्रत्येक के चार कारण हैं। नरक गति के चार कारण हैं— महारम्भ, महा परिग्रह, पचेन्द्रिय वध कुणिमाहार—मांसादि भक्षण,। तिर्यच गति के माया, निकृति (माया-माया), अलीक वचन— मिथ्यादोषारोपण, कूट तोल, कूट माप। मनुष्य गति योग्य कर्म भद्रता, नम्रता, अनुकम्पा, अमात्सर्य। देवगति के लिये सराग सयम, सयमासयम, अकाम निर्जरा और बाल तप, कारण हैं। इन का आचरण करने वाला जीव क्रमश उन्हा गतियो मे उत्पन्न होता रहता है।

उक्त चारो गति सुगति भी है दुर्गति भी। धर्म सम्यक्त्व की अपेक्षा ये सुगति हैं और मिथ्यात्व, अधर्म की अपेक्षा दुर्गति हैं।

× इन सब के उत्तर भेद और व्याख्या के लिए देखो इस पुस्तक का दूसरा भाग।

+ ये ९९ प्रकार के हैं, मूल रूप में चार प्रकार के हैं—भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक।

मनुष्य गति सुगति इसलिए है कि इस से जीव मुक्ति में जाता है और दुर्गति इसलिये कि अशुभ कर्म का उपार्जन कर सातवीं नरक में चला जाता है। अथवा मनुष्य भव में आकर भी जिस की खराब स्थिति है तो वहाँ दुर्गति कहलाती है। किल्विषिक आदि निन्दित देव की अपेक्षा देव गति दुर्गति कहलाती है।

दूसरा बोल

प्र० जाति किसे कहते हैं ?

जाति से अभिप्राय समूह से है। (classes) ये पांच हैं—

१ एकेन्द्रिय जाति २ द्वीन्द्रिय जाति

३ त्रीन्द्रिय जाति ४ चतुरिन्द्रिय

५ पंचेन्द्रिय जाति

—प्रज्ञा० २३ प०, स्था० ५।

'जाति' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इस के दो अर्थ हैं—जन्म और समूह। किन्तु यहां समूह ही (Class) विशेष अर्थ लिया गया है। क्योंकि अनेक व्यक्तियों में एकता—समानता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते हैं। जैसे गोत्व (गायपन) सभी भिन्न २ वर्ण की गायों में एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय जाति एक इन्द्रिय वाले जीवों में एकता का ज्ञान कराती है अतः एकेन्द्रिय जाति-आदि एक इन्द्रिय वाले समग्र जीवों (समूह) का बोधक है। The class of one sense being, two sense being etc

प्रथम बोल में अनन्त जीवों को चार भागों में बांटा गया है, पर वे भी परस्पर समान नहीं हैं गुण, साधन, स्वभाव आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं इस लिए उनका ज्ञान कराने के लिये संसारी जीवों को पुनः पांच समूह में बांटा गया है—एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त।

यहा जीवो का वर्गीकरण मोटे तौर पर इन्द्रिया के आधार पर किया गया है। इन्द्रियाँ पाच हैं जिस जीवको जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं वह उसी संख्या से पुकारा गया है। जिस प्रकार एक स्पशन इन्द्रिय वाले जीव को एकेन्द्रिय। जसे—पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और वनस्पति।

द्वीन्द्रिय—जिन जीवो के स्पशन और रसन, ये दो इन्द्रिया हैं वे द्वीन्द्रिय कहे जाते हैं। जैसे— सीप शख, जोक अलसिया गिडोया आदि।

त्रीन्द्रिय—स्पशन, रसन और घ्राण(नासिका) जिन जीवो के हैं। वे त्रीन्द्रिय। जसे—जूँ, लीख, चीचड, मकडी, सुरसुली आदि।

चतुरिन्द्रिय—तीन पूर्वोक्त और चक्षुरिन्द्रिय जिन जीवो के हो वे चतुरिन्द्रिय कहलाते है। जसे—मक्खी, मच्छर, भवरा, टिड्ड पतगा आदि।

पंचेन्द्रिय—पाचो ही इन्द्रियाँ जिन जीवो को प्राप्त हो वे पचेन्द्रिय कहे जाते हैं। जसे—जलचर स्थलचर, खेचर, अर्थात मगरमच्छ, गाय, भैस, सर्प, पक्षी, मनुष्य आदि।

इस प्रकार जीव जाति नाम कर्मोदय के परिणाम स्वरूप इन जातियों में जन्म लेता रहता है। अत जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि कहे जाए उस नाम कर्म को जाति कहते है।

काय छह

प्र० काय क्या है ?

औदारिक आदि विविध पुद्गलों से बने हुए विविध प्रकार के शरीर को धारण करने से जीवों के जो नाना समूह बन गये हैं वह काय कहलाता है।' ये छह प्रकार के हैं।

१ पृथ्वी काय	४ वायु काय
२ अप्काय	५ वनस्पति काय
३ तेजस्काय	६ त्रस काय×

—ठा० ६

परिभाषा

'काय का अर्थ है शरीर योग्य पुद्गलों की रचना और वृद्धि "चीयते..." इति वा काय। अथवा औदारिक वैक्रिय-वर्गणा रूप पुद्गलों की रचना—समूह काय है—औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से निर्मित होते हैं काय।

सकर्म जीव के रहने के लिये किसी न किसी आवास की आवश्यकता होती ही है जिस प्रकार पदार्थ को पात्र की। अतः जीव विभिन्न शरीर योग्य पुद्गलों से निर्मित शरीर में निवास करता है। शरीर जिस से बना है उन पुद्गलों का एकत्रित होना—संघात

× छ जीव काय: पुढवी काए, आउ काए, तेउ काए, वाउ काए, वणस्सइ काए, तस काए।

रूप काय कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ शरीर ही है। "एगट्ठिओ कायो सरीर देहो" के अनुसार काय, शरीर और देह एकार्थ वाची हैं। † शास्त्रकारो ने इस को बारह नामा से पुकारा है–काय, शरीर, देह, बोन्दि, चय, उपचय, सघात, छच्छय, समुच्छय, कलेवर भस्त्रा, तनु पाणु।

यूँ तो शरीर भी काया ही है किन्तु यहां शरीर से जीवो मे पार्थक्य दिखाई नही देता, क्योंकि मनुष्यतियच सभी औदारिक शरीर ही हैं किन्तु उस की रचना (काठिन्य तरल, उष्ण आदि) से छह प्रकार का ही पार्थक्य उत्पन्न होता है और वह भी मुख्य रूप से दो प्रकार से–एक स्थिर दूसरा गतिशील। पहला शरीर बाह्य अवयवो इन्द्रियों से रहित होने के कारण स्थिति शील है दूसरा सागोपाग होने से ही गतिशील है। इस प्रकार काया के दो स्वाभाविक रूप हैं।

यह काय दो प्रकार की है–त्रस काय और स्थावर काय। *

पूर्व बोल में आई हुई जातियो से ही जीव स्वरूप का पूरी तरह ज्ञान नही हो सकता क्योंकि यह तो मात्र समूह ही है इसलिये प्रस्तुत बोल मे काय ज्ञान द्वारा समझाया गया है कि एकेन्द्रिय आदि जो जीव हैं वे किस काय वाले हैं, हां तो ये दो भागो मे विभक्त है स्थावर और त्रस। ससार मे समग्र जीव इन दोनो काय मे समाहित हो जाते हैं। अर्थात् उक्त पृथ्वी आदि छह काय से भिन्न और

† "दो काया पण्णत्ता तजहा—तस काय चेव थावर काय चेव" स्था० २।

* वपु काय देह कलेवर शरीर पर्याया।

कोई जीव कोटि नहीं है। शरीर की अपेक्षा तो ये पाचों औदारिक शरीरी ही हैं किन्तु काय की अपेक्षा एकेन्द्रिय स्थावर कायिक हैं और शेष चार त्रस काय वाले हैं। त्रस नाम कर्म के उदय से जीव त्रस काय शरीर में उत्पन्न होता है और स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर शरीर में। इसलिये ये क्रमशः त्रस एवं स्थावर कहलाते हैं।

स्थावर—का अर्थ है स्थितिशील, जो एक स्थान पर ही स्थित रहें। अथवा जो अपने सुख-दुःख निवारण के लिये इधर-उधर आ जा न सकें वे स्थावर कहलाते हैं जैसे पृथ्वी, अप, तेजस, वायु और वनस्पति। इनमें वायु और अग्नि गति की अपेक्षा त्रस हैं स्थावर नाम कर्मोदय के कारण स्थावर पर्याय होने से स्थावर हैं।

त्रस—दुःख से त्रस्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति वाले प्राणी। अर्थात् हलन-चलन क्रिया वाले प्राणी त्रस कहे जाते हैं। (Mobile creatures) जैसे—सीप, शंख, जूँ, खटमल, मक्खी, मच्छर, मच्छ, पशु-पक्षी, मनुष्य, देव आदि।

उक्त छह काय में प्रथम के पाँच काय स्थावर हैं और छठा त्रस।

पृथ्वी काय—पृथ्वी ही है जिन जीवों का शरीर वे पृथ्वी कायिक, अप्—जल ही है जिनका शरीर, वे अप्काय, अग्नि ही है जिनका शरीर वे अग्निकाय तथा वायु ही है जिनका शरीर, वे वायु काय और वनस्पति ही है जिन का शरीर, वे वनस्पति काय जीव कहलाते हैं।

त्रस काय—द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव त्रसकाय कहलाते हैं।

पृथ्वी काय—मिट्टी, मुरड, गेरू, हिंगलु, हरिताल, सोना-चांदी माणिक, हीरे आदि जवाहरात पृथ्वी के भेद हैं। यह दो प्रकार की

है कोमल और कठोर, कोमल के बाईस भेद हैं और कठोर के तीस, भेद हैं। मिट्टी आदि के एक एक कण में असंख्य पृथक २ जीव होते हैं। अन्य शस्त्र में परिणत हो जाने पर ही वह अचित्त होती है अन्यथा सचित्त (सजीव) ही रहती है।

अप्काय—ओस, हिम, गड़ा, फुवार, धूअर, मुग, बादली का जल नदी, झील, समुद्र आदि का जल ये सब अप्काय हैं अर्थात् इन का जल सचित्त जल होता है। इस की एक बूंद में असंख्य पृथक् २ जीव होते हैं। अन्य शस्त्र के परिणत होने पर ही अचित्त होता है। जैसे अग्नि के प्रयोग से जल का उष्ण हो जाना।

तेजस्काय—चूल्हे आदि की अग्नि, अंगार, मुमुर, अर्चि दीपक आदि की जोत की अग्नि, झाल की अग्नि, उल्कापात आदि सब अग्नि काय हैं। शेष पृथ्वी काय की भांति जानना चाहिये।

वायु काय—उत्कलिका वायु मण्डलिका वायु घन वायु, गुञ्जा वायु, संवर्तक वायु आदि सब वायुकायिक जीव हैं।

वनस्पति काय—वृक्ष, लता, कन्द, मूल, फल, आदि वनस्पति काय है। यह दो प्रकार की है- प्रत्येक और साधारण। एक शरीर में अनन्त जीव निवास करते हैं वह साधारण वनस्पति काय है। जैसे—कन्द-मूल, आलू, मूली, अदरक आदि। यह अनन्त कायिक, वनस्पति है। तथा जिसके एक शरीर में एक ही जीव हो वह प्रत्येक वनस्पति काय है। जैसे—वृक्ष, लता, तृण, आदि (A constitution in which one body)†

---

† इन्द्र स्थावर काय, ब्रह्म स्थावर काय शिल्प स्थावर काय, सुमति स्थावर काय, प्राजापत्य स्थावर काय, जंगम काय। ये इनके नाम हैं और उपर्युक्त गोत्र हैं।

इन गाथा का प्रतिपादन कर शास्त्रकार उक्त पृथ्वी आदि जीवों का ज्ञान कराना चाहते हैं जिन्हें संसार में 'बहुधा जड़ कह कर निर्जीव मान लिया है, और उनके प्रयोग को यथा-चित मानते हैं, तथा मानव धर्म में मात्र चलते फिरते प्राणियों को ही जीव मान कर उनकी हिंसा में पाप और रक्षा में पुण्य का विधान किया है। किन्तु जैन दर्शन ने जीव स्वरूप का सूक्ष्म अध्ययन करके यह बतलाया है कि जिनके शरीर में हलन चलन क्रिया की शक्ति न हो पर उन में जीव अवश्य होता है। क्योंकि उनके पास केवल एक स्पर्शन-शरीर मात्र ही होता है। जिस प्रकार एक पुरुष जन्म से अन्धा है गूंगा, बहरा है, लूला है, उस के शरीर की इन्द्रियां को यदि कोई काटता है तो उसे अवश्य पीड़ा का अनुभव होता है किन्तु वह उसे प्रकट नहीं कर सकता। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक आदि जीव भी, परोक्ष रूप में सुख-दुख का अनुभव करते हैं प्रकट रूप में नहीं। क्योंकि उन के पास साधन ही नहीं है। अतः एक अहिंसक के लिए इनकी रक्षा करना भी कर्तव्य है। इनके अभाव में अहिंसा अपूर्ण ही रहती। फिर आज तो विज्ञान ने भी जल वनस्पति आदि में जीव सिद्धि प्रकट कर दी है।

चौथा बोल

प्र० इन्द्रिय किस कहते हैं ?

इन्द्र (आत्मा) के चिन्ह को जिस से वह जाना जाय इन्द्रिय कहते हैं अथवा आत्मा के ज्ञान का जो साधन है वह इन्द्रिय कहा जाता है। यह पांच प्रकार का है--

१ श्रोत्र इन्द्रिय   २ चक्षु इन्द्रिय
३ घ्राण इन्द्रिय   ४ रसन इन्द्रिय
५ स्पर्शन इन्द्रिय

--प्रज्ञा० ५१ पद

परिभाषा

'इन्द्रिय' का अर्थ है, जिस से आत्मा की प्रतीति तथा पदार्थों का संवेदन-ज्ञान हो अथवा सब वस्तुओं का ज्ञान तथा उपभोग करने रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होने से आत्मा को इन्द्र कहते हैं और उसके चिन्ह श्रोत्र आदि को इन्द्रिय कहते हैं। (Sence organs)

जगत में दो प्रकार के पदार्थ हैं--मूर्त्त एवं अमूर्त्त। मूर्त्त पदार्थ ही इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, अमूर्त्त नहीं। शरीर, इन्द्रियां का द्रव्य रूप तो मूर्त्त है किन्तु आत्मा अमूर्त्त है अतः उसकी साक्षात् उपलब्धि नहीं होती, "नोइन्द्रिय इन्द्रिय अमुत्तभावा" फिर भी जिन साधनों से आत्मा की प्रतीति होती है वह साधन इन्द्रियां हैं। जैसे एक शरीर को देख कर हम जान लेते हैं कि यह निर्जीव है और दूसरे पर दृष्टि पड़ते ही मालूम हो जाता है कि यह सजीव

है। दार्नो शरीरो में इन्द्रिया होती हैं पर निर्जीव शरीर की इन्द्रियाँ अपना काय नहीं करती जब कि सजीव शरीर की इन्द्रियाँ अपना २ काय करता रहतीं हैं– कान सुनते हैं आँख देखती हैं, नासिका सूंघती है स्पर्शन–हाथ-पाँव हिलते हैं तथा जिह्वा चखती है। इन्द्रियों का यह व्यापार ही आत्मा के अस्तित्व और वस्तु के संवेदन का परिचायक है।

श्रोत्रेन्द्रिय–कान, जिनके द्वारा शब्दों का ज्ञान होता है (Ear) Sense of hearing

चक्षुरिन्द्रिय–आँख, जिन के द्वारा वर्णो-रगों का ज्ञान होता है। (Eyes) Sense of seeing

घ्राणेन्द्रिय–नासिका, जिस के द्वारा गन्ध का ज्ञान होता है। (Nose) Sense of smelling

रसनेन्द्रिय–जिह्वा, जिसके द्वारा रस का ज्ञान हो (Tongue) Sense of tasting

स्पर्शनेन्द्रिय–त्वचा, जिसके द्वारा स्पर्श का ज्ञान हो। (Skin) Sense of touching

आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान एवं दर्शनमय है किन्तु कर्मावरण से उसकी यह शक्ति निर्बल हो जाती है और वह वस्तु को सीधा ज्ञान प्राप्त न कर इन्द्रियों द्वारा करता है। उपकरण द्रव्येन्द्रिय में जब तक चेतना का प्रवाह प्रवाहित नहीं होता तब तक आत्मा को पदार्थ मात्र की अनुभूति नहीं होती। अत शास्त्रकारों ने इन्द्रियों के दो भेद किये हैं– द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय पुद्गल रूप है और भावेन्द्रिय चेतना रूप।

द्रव्येन्द्रिय—नेत्र आदि का बाह्य व आभ्यन्तर पौद्गलिक आकार द्रव्येन्द्रिय है। (Physical sense orgens) यह दो प्रकार की है निवृत्ति और उपकरण। इन्द्रियों का आकार विशेष निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय है, और संवेदन, ज्ञान तथा अनुभव में सहायक दर्पण के समान स्वच्छ पुद्गलों की रचना विशेष उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। उपकरण द्रव्येन्द्रिय के बिना आत्मा अपने विषय को नहीं जान सकता क्योंकि इसमें प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण करने की क्षमता है। निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय तो पुद्गल रचना का आकार विशेष ही है।

[A physical sense organs is nothing but the material atoms as possessed of a definate shape It is of two varieties the organ itself and its protecting environments The former is called *"nirvrtti"* and the latter *upakarana* —*by M.L Mehata*]

भावेन्द्रिय—आत्मा ही भावेन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति विशेष भाव इन्द्रिय है। (Psychical sense orgen) इस के दो रूप हैं—लब्धि और उपयोग। आत्मा की संवेदनात्मक शक्ति और संवेदना का व्यापार क्रमश लब्धि और उपयोग है। अर्थात् कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली संवेदन शक्ति—जिस से वस्तु का ज्ञान हो, लब्धि भावेन्द्रिय है और उसका (शक्ति) का प्रयोग—व्यापार उपयोग भावेन्द्रिय है। संक्षेप में— इन्द्रियों की बाह्य आभ्यन्तर आकृति द्रव्येन्द्रिय तथा श्रवण, दर्शन आदि शक्ति विशेष भावेन्द्रिय है।

[Psychical sense is also of two varieties attainment and activity] द्रव्येन्द्रियां अंगोपांग नाम कर्म के

उदय के फलस्वरूप ज्ञान की प्राप्ति होगी दा भावेन्द्रिय ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के फलस्वरूप होता है। इस प्रकार इन्द्रियां ज्ञान की प्रमुख साधन हैं और इसी के आधार पर जीवों का वर्गीकरण हुआ है क्योंकि सभी जीवों को एक समान इन्द्रियां प्राप्त नहीं हैं। किसी जीव को एक किसी को दो तो किसी को पांच हैं। अतः आगे ज्ञान का अधिक स्पष्ट करने के लिए इन्द्रियों का कथन है।

पांचवां बोल

प्र० पर्याप्ति क्या है ?

"नवीन शरीर ग्रहण करने मे शरीर योग्य पुद्गलो के ग्रह मे तथा परिणमन मे निमित्त भूत आत्मजन्य शक्ति पर्याप्ति है।' ये छह प्रकार की है–

१ आहार पर्याप्ति	२ शरीर पर्याप्ति
३ इन्द्रिय पर्याप्ति	४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५ भाषा पर्याप्ति	६ मन' पर्याप्ति†

—प्रज्ञा० १ प० भग० • श०

परिभाषा

पूर्व बोल मे आई हुई इन्द्रियो के निर्माण मे कारण भूत शक्ति पर्याप्ति है अत प्रस्तुत बोल म उसका परिचय कराया गया है।

'पर्याप्ति' का अर्थ है वह शक्ति विशेष जिस से जीव पुद्गलो को ग्रहण कर उन्हें शरीर-इन्द्रियादि रूप मे परिणमन करता है। अथवा शक्ति की पूर्णता ही पर्याप्ति है। (Completion of energy) '*Paryapti*' the power to utilise the particles of matter for the full development of certain physical and mental faculties This is of six kinds etc

–*The practical path*

इस स्थूल शरीर को छोड कर जीव जब अन्यत्र उत्पत्ति स्थान मे जाता है तो वहाँ उसे सब प्रथम पिण्ड की आवश्यकता पडती है

† आहार सरीरिंदय पज्जत्ती आण पाण भास मणे —न० प्र०

तथा उन का अवलम्बन लेकर छोड़ता है वह मन पर्याप्ति है।†

पर्याप्तक—वे जीव जो स्वयोग्य-जितनी जिन में होनी चाहिये पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेते हैं, पर्याप्तक हैं।

अपर्याप्तक—जिन जीवों की स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण न हों वे अपर्याप्तक हैं।

प्रत्येक जीव कम से कम प्रथम तीन पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं, तथा चौथी श्वासोच्छवास पर्याप्ति के रहते ही मरता है इसके पूर्व नहीं। इसका कारण यह है कि जीव आगामी भव की आयु वर्तमान भव में बांध कर ही मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयुष्य का बन्ध उन्हीं जीव के होता है जो आहारादि प्रथम तीन पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेते हैं।

एकेंद्रिय जीव में प्रथम की चार पर्याप्तियां, विकलेंद्रिय, असन्नी तिर्यंच, असन्नी मनुष्य में पांच, और सन्नी जीव में छहों ही पर्याप्तियां होती हैं।

उपयुक्त पर्याप्तियां पूर्ण होने पर ही जीव के द्रव्य प्राणों का कारण उत्पादन होता है अतः ये कारण रूप हैं किस पर्याप्ति से कौनसा प्राण यह आगे प्राण पद में दर्शाया जायगा।

उपयुक्त पर्याप्ति के आधार पर भी जीवों को दो भागों में बांटा है— पर्याप्त और अपर्याप्तक।

---

†पर्याप्ति के विशेष ज्ञान के लिए 'तत्त्वचिन्तामणि' भाग २ का पर्याप्ति द्वार।

प्राण दस

छठा बोल

प्राण किसे कहते हैं?

प्राण का सामान्य अर्थ तो श्वास ही है किन्तु यहाँ विशेष अर्थ लिया गया है—'जीवन शक्ति' जिस के रहते हुए प्राणी जीवित रहता है और वियोग में मर जाय। 'तेहिं सह विप्पओगो जीवाणं भण्णए मरणं।'

१ श्रोत्र बल प्राण[1]	२ चक्षु बल प्राण
३ घ्राण बल प्राण	४ रसन बल प्राण
५ स्पर्शन बल प्राण	६ मन. बल प्राण
७ वचन बल प्राण	८ काय बल प्राण
९ श्वासोच्छ्वास बल प्राण	१० आयुष्य बल प्राण

—जैन० भेम० प्रश०

परिभाषा

'प्राण' का अर्थ है वह शक्ति जिस के (होने पर) सद्भाव में प्राणी जीवित रहे तथा अभाव में ज्ञान हीन अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जाय। अर्थात् जीवन शक्ति।

ये प्राण जीव की एक प्रकार की जीवन-शक्तियाँ हैं जो इसके संवेदन, जीवन तथा उपभोग में सहायक हैं। इनके अभाव में जीव वस्तु का संवेदन नहीं करता और न ही इस पिण्ड में अवस्थित ही

---

[1] श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण आदि। "पंचिंदिय तिबलूसासाउ दस पाणा" —नव० प्र०

रह सकता है। यद्यपि जीव स्वयं अनन्त शक्ति-पुञ्ज है, तथापि शक्ति के उपभोग के लिए के लिये बाह्य साधना की अपेक्षा रहती ही है। अतः पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलों के संयोग से स्वयोग्य श्रोत्र आदि इन्द्रिय शक्तियों को जीव प्राप्त कर लेता है और उन्हीं के आधार पर अपनी जीवन क्रिया पूर्ण करता है।

ये प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्य प्राण और योगस्त्राभाव प्राण। इन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं क्योंकि ये पुद्गल रूप हैं और जीव के बाह्य लक्षण हैं तथा इन प्राणों के आधार पर ही जीव को प्राणी कहते हैं, क्योंकि प्राण जीव का लक्षण है और उस के आधार पर वह जीवित रहता है—"प्राणिति जीवति अनेनेति प्राण"। अथवा जिस से "यह जीव है" ऐसी प्रतीति हो वह बाह्य लक्षण प्राण कहलाता है और इसलिये जीव की प्राणी-प्राणी संज्ञा है।

द्रव्य प्राण सभी जीवों में समान नहीं होते, न्यूनाधिकता रहती है, कम से कम चार प्राण—स्पर्शन, शरीर, आयु और श्वासोच्छ्वास तो प्रत्येक संसारी जीव के होते ही हैं। बिना इन के वह जीवित ही नहीं रहता योग्य प्राणों के सदभाव में अधिक सुख का अनुभव करता है और अभाव में दुख का।

कौनसा प्राण किस कोटि में है?

प्राण चार भागों में विभक्त है-इन्द्रिय, योग, पान और आयु।

सुनने की शक्ति, देखने की शक्ति, सूंघने की शक्ति, चखने की शक्ति, छूने की शक्ति, ये पाच इन्द्रिय बल प्राण हैं।

सोचने की शक्ति, बोलने की शक्ति, करने की शक्ति-ये योग बल प्राण है तथा जिस शक्ति से वायु को अन्दर खींचता है और

अन्दर की वायु को बाहर, यह क्रमश श्वास और उच्छ्वास प्राण कहलाता है।

जिस के आधार से जीव जीवित रहे और अभाव में मर जाय वह वायु प्राण है।

श्रोत्र बल प्राण–से अभिप्राय श्रवण शक्ति से है न कि केवल श्रोत्र-कान से। क्योंकि 'बल' का अर्थ है शक्ति विशेष। Strength of hearing

चक्षु बल प्राण–देखने की शक्ति, Strength of seeing

घ्राण बल प्राण–सूंघने की शक्ति „ of smelling

रसन बल प्राण–चखने की शक्ति of testing

स्पर्शन बल प्राण–छूने की शक्ति, , of touching

मन बल प्राण–सोचने की शक्ति, „ of mind

वचन बल प्राण–बोलने की शक्ति, „ of speaking

काय बल प्राण–स्पंदन (हिलने चलने की शक्ति, Strength of moving

श्वास उच्छ्वास बल प्राण–St in hale and ex hale

द्रव्य प्राण नाम कर्मोदय तथा भाव प्राण ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट हुई शक्ति विशेष है।

भाव प्राण चार हैं–सुख सत्ता, चैतन्य और बोध।

पूर्व बोल में आई हुई पर्याप्तियां इन प्राणों का कारण रूप हैं और प्राण कार्य रूप हैं। पर्याप्तियों का काल अन्तमूहर्त है जब कि प्राण जीवन पर्यंत रहते हैं। अतः भवोपग्राही कहलाते हैं।

कौनसा प्राण किस पर्याप्ति का कार्य है–

५ इन्द्रिय प्राण मुख्य रूप से इन्द्रिय पर्याप्ति का कार्य है।
१ काय बल „ „ शरीर पर्याप्ति का कार्य है।
१ वचन बल „ „ भाषा पर्याप्ति का कार्य है।
१ मनोबल „ „ मन पर्याप्ति का कार्य है।
१ श्वासोच्छ्वास प्राण „ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का कार्य है।
१ आयुष्य प्राण „ (आहारादि पर्याप्ति सहकारी उपकारी)

अत पर्याप्ति प्राणों का ज्ञान अनिवार्य है और यह जीव में ही सभव है अजीव मे नहीं।

शरीर पांच

सातवां बोल

शरीर किसे कहते हैं ?

"जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं" अथवा जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण शीर्ण होता चला जाता है वह शरीर कहलाता है।*यह पांच प्रकार का है-

१ औदारिक शरीर २ वैक्रिय शरीर
३ आहारिक शरीर ४ तैजस शरीर
५ कार्मण शरीर

ठा० ५/१ प

परिभाषा

जैसे बिना पात्र के पदार्थ नहीं रहता उसी प्रकार सकर्म जीव भी बिना सहायक पदार्थ के अपनी क्रिया नहीं कर सकता। शरीर एक प्रकार का साधन है बिना इस साधन वह उपभोग करने में असमर्थ होता है। और यहां तक कि "शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्" धर्म साधना का पहला साधन शरीर ही है।

औदारिक शरीर—उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गल से बना हुआ शरीर औदारिक शरीर है। त्रस-स्थावर जीवों मनुष्य पशु-पक्षी आदि का शरीर औदारिक शरीर होता है।

---

* शीर्यते प्रतिक्षणं विशरारुभाव बिभर्तीति शरीरं—अ० रा०

तीर्थंकर–गणधर आदि विशिष्ट पुरुषों का शरीर प्रधान पुद्गलों का बना हुआ होता है शेष साधारण प्राणियों का स्थूल-असार पुद्गलों से बना होता है।

वैक्रिय शरीर–जिस शरीर से विविध अथवा विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं होती हैं वह वैक्रिय कहलाता है। जैसे एक रूप से अनेक रूप धारण करना, सूक्ष्म से स्थूल, दृश्य से अदृश्य हो जाना आदि।

आहारक शरीर–आहारक लब्धि-शक्ति विशेष से बनाया गया शरीर आहारक शरीर है। अर्थात् तीर्थंकर देव की ऋद्धि के दर्शन, संशय निवारण आदि विशेष प्रयोजन से, चौदह पूर्वधारी मुनिराज अन्य क्षेत्र स्थित तीर्थंकर देव के पास अपनी लब्धि द्वारा एक हाथ परिमाण वाला अत्यन्त रमणीय पुतला उत्पन्न कर भेजते हैं उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर–तेजस् पुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस शरीर है। प्राणियों के शरीर में विद्यमान उष्णता से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। तप विशेष से प्राप्त तैजस लब्धि का कारण भी यही शरीर है।

कार्मण शरीर–कर्म पुद्गलों से बना हुआ शरीर कार्मण है। अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए (पिण्डभूत) आठ प्रकार के कर्म-पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। इसे सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। यह शरीर ही अन्य शरीरों का बीज है।

इन पांचों शरीरों में औदारिक शरीर ही जीव की मुक्ति का साधन है अन्य शरीर से जीव मोक्ष प्राप्त नहीं करता। क्योंकि

योग पन्द्रह

आठवां बोल

प्र० योग किसे कहते हैं ?

उ० वीर्यान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से मन, वचन और काया के अवलम्बन द्वारा आत्म-प्रदेशों में होने वाला परिस्पन्दन–कंपन, व्यापार योग कहलाता है। अथवा मन-वचन-काया के व्यापार को, हरकत को योग कहते हैं। इसका आधार तीन प्रकार का है मन, वचन और काया अतः तीन भेद हैं और वे क्रमशः चार, चार तथा सात तरह के हैं–

[चार मन के, चार वचन के, सात काया के]

चार मन के –

१ सत्य मनोयोग २ असत्य मनोयोग
३ मिश्र मनोयोग ४ व्यवहार मनोयोग

चार वचन के –

१ सत्य वचन योग २ असत्य वचन योग
३ मिश्र वचन योग ४ व्यवहार वचन योग

सात काय योग –

१ औदारिक काय योग २ औदारिक मिश्र काय योग
३ वैक्रिय काय योग ४ वैक्रिय मिश्र काय योग

के लिये-सहायक हो, तथा प्राणी मात्र के प्रति हितकर हो वह सत्य मनोयोग है।

असत्य मनोयोग—जीवादि पदार्थों के प्रति अयथार्थ-मिथ्या विचार कि जीव नहीं है आदि। अथवा वे असत्-मिथ्या विचार जो जीवन को कलुषित करते हो प्राणी मात्र के अहितकर हो वे असत्य मनोयोग हैं।

मिश्र मनोयोग—मन में सत असत् दोनों प्रकार के विचारों का होना अथवा जीवादि के प्रति संदेह शील रहना मिश्र मनोयोग है। (True and untrue) [सत्य मृषा मनोयोग]

व्यवहार मनोयोग—मन के वे विचार जो सत्य नहीं है किन्तु असत्य भी नहीं हैं। जसे इच्छा सुझाव, आज्ञा आदि।

वचन योग—वचन का व्यापार, प्रवृत्ति—बोलना, कहना। (Vocal activity) यह भी चार प्रकार का है।

सत्य वचन योग—सत्य बोलना, अथवा विद्यमान जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करना (कहना)।

असत्य वचन योग—असत का अभिधान, जो पदार्थ या बात जिस रूप में नहीं है उसे उस रूप में कहना, विपरीत कहना अथवा कटु, मर्म, कलह संदिग्ध परिणामी वाली वाणी बोलना।

मिश्र वचन योग—जो वचन सत् असत् दोनों का विधान करता हो अर्थात् वह वाणी जो असत्य किन्तु सत्य भी हो।

व्यवहार वचन योग—वह वचन जो न सत्य ही हो और न असत्य ही। जसे वह नगर आ गया सड़क आ गई इत्यादि। इसी

प्रकार आमन्त्रण, आज्ञा तथा सुभाव आदि देने व्यवहार भाषा व्यवहार वचन योग है।

काय योग—काय का अर्थ समूह है औदारिक आदि शरीर भी पुद्गल-स्कन्धों के समूह हैं अतः काय कहलाते हैं तथा इन का व्यापार-प्रवृत्ति चलना फिरना आदि विभिन्न क्रिया करना काय योग है अर्थात् काया की हरकत काय योग है। शरीर पांच हैं जो पहले आ चुके हैं अतः उनका व्यापार काय योग है। यह मिश्रकाय योग होने से सात प्रकार का है—

औदारिक काय योग—औदारिक शरीर के द्वारा होने वाला शक्ति का व्यापार औदारिक काय योग है। (Physical activity)

औदारिक मिश्र काय योग—औदारिक के साथ कामण, वक्रिय या आहारक के सहयोग से होने वाला शक्ति का व्यापार।

वैक्रिय काय योग—वक्रिय शरीर द्वारा होने वाला शक्ति का व्यापार प्रवृत्ति वक्रिय काय योग है अर्थात् वक्रिय शरीर की क्रिया।

वैक्रिय मिश्र काय योग—वक्रिय और कामण अथवा वक्रिय और औदारिक इन दोनों शरीरों द्वारा होने वाला (शक्ति का) व्यापार वक्रिय मिश्र काय योग है।

आहारक काय योग—आहारक शरीर के सहयोग से होने वाला व्यापार।

आहारक मिश्र काय योग—आहारक और औदारिक शरीर द्वारा होने वाला व्यापार।

कार्मण काय योग—कार्मण शरीर के द्वारा होने वाला शक्ति का व्यापार कार्मण काय योग।

तैजस काय योग इसलिये नहीं माना गया कि कार्मण और तैजस दोनों का सदा साहचर्य रहता है। औदारिक आदि शरीर तो कार्मण को छोड भी देते हैं। पर तैजस उसे नहीं छोड़ता इस लिये शक्ति का जो व्यापार कार्मण द्वारा होता है वही तैजस द्वारा होता है। अतएव उसका इसी में समावेश हो जाता है।

शरीर ही योग—व्यापार का मुख्य साधन है। यू तो प्रत्येक योग अपनी २ वर्गणा द्वारा ही निष्पन्न होते हैं किन्तु इनमें काय योग ही मुख्य आधार है बिना इसके मन और वचन का कार्य संपन्न नहीं होता अतएव शरीर के पश्चात् योग का कथन किया गया है। यह मुख्य रूप में तीन ही प्रकार का है किन्तु आधार भेद से पन्द्र प्रकार का हो गया है।

उपयोग बारह

नवमां बोल

उपयोग क्या है ?

पदार्थ के सामान्य विशेष धर्मों का ज्ञान–बोध रूप व्यापार ही उपयोग है अथवा वस्तु का सामान्य तथा विशेष रूप से जानना उपयोग कहलाता है। या आत्मा द्वारा सत्-असत् के निर्णय करने के लिये होने वाला प्रयत्न विशेष उपयोग है। (Cognition) यह बारह प्रकार का है— पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार दर्शन।

पांच ज्ञान –

१ मति ज्ञान २ श्रुत ज्ञान
३ अवधि ज्ञान ४ मन:पर्याय ज्ञान
५ केवल ज्ञान

तीन अज्ञान—

१ मति अज्ञान २ श्रुत अज्ञान
३ विभंग अज्ञान

चार दर्शन—

१ चक्षु दर्शन २ अचक्षु दर्शन
३ अवधि दर्शन ४ केवल दर्शन

—प्रज्ञा० २९ पद

परिभाषा

पूर्व वर्णित योग—व्यापार उपयोग का औपचारिक साधन है अथवा यों कहें कि योग के द्वारा ही उपयोग की योजना कार्यान्वित होती है अतः उपयोग का कथन किया गया है—

संसार में दो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं—जड़ और चेतन। इनमें चेतन में ही अनुभव, संवेदन ज्ञान की शक्ति दिखाई देती है। जड़ में नहीं। क्यों कि चेतना जीव में ही है अतएव वह प्रत्येक पदार्थ को जानने का प्रयत्न भी करता है और उसका यह व्यापार ही उपयोग है। जैनाचार्यों ने जड़ एवं चेतन का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा— "उवओग लक्खणो जीवो" जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग का आधार चेतना—जानने की शक्ति (Feeling power) है।

जैन दर्शन स्याद्वाद दर्शन है जो किसी भी पदार्थ को एक दृष्टि से नहीं बल्कि अनेकों दृष्टिकोणों से जानता है। जैसे कि प्रत्येक वस्तु आदि अंत, नित्य, अनित्य, सामान्य विशेष आदि हैं। हां, तो इस की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है और यही कारण है कि पदार्थ के जानने की शक्ति के भी दो भाग हो गये हैं और जानने की क्रिया (उपयोग) भी दो प्रकार की है।

उपयोग दो प्रकार का है—साकारोपयोग, अनाकारोपयोग।†

साकारोपयोग—पदार्थ के विशेष धर्म (जाति, गुण, क्रियादि)

† उपयोग, ज्ञान, दर्शन के विविध नाम के लिए देखें इसी पुस्तक का द्वार भाग— 'उपयोग द्वार' आदि।

का जिस से ज्ञान हो। इसे ज्ञानोपयोग भी कहते हैं (Determinate cognition)

अनाकारोपयोग–जिस से पदार्थ के सामान्य धर्म-सत्ता का ज्ञान होता है वह अनाकारोपयोग या निराकारोपयोग कहलाता है। इस का दूसरा नाम दर्शनोपयोग (Indeterminate cognition)

आत्मा में चेतना गुण के समान होने पर भी उपयोग सब आत्माओं में समान नहीं होता। इस के दो कारण हैं–प्रत्येक आत्मा के कर्मावरण मन्द-तीव्र होते हैं, दूसरे इन के द्वारा होने वाला विषय भेद इन्द्रिय आदि साधन भेद काल भेद आदि। क्योंकि उपयोग का आधार इन्द्रियां और कर्म का क्षयोपशम है। इनके अभाव में अपनी चेतना पदार्थ ज्ञान करने में समर्थ नहीं है फिर ये साधन मन्द तीव्र स्वभाव वाले हैं इसीलिये उपयोग के बारह भेद हुए हैं जिन में से आठ साकारोपयोग–पांच ज्ञान, तीन अज्ञान हैं तथा चार अनाकारोपयोग–चार दर्शन हैं।

ज्ञान-दर्शन और उपयोग में केवल इतना ही अन्तर है कि ज्ञान-दर्शन शक्ति रूप है तथा उपयोग उस का प्रयोग है, अर्थात् उपयोग क्रिया है, ज्ञान-दर्शन साधन हैं और पदार्थ ज्ञान साध्य है।

ज्ञान पांच हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवल ज्ञान।

मति ज्ञान–नेत्र आदि इन्द्रियां तथा मन के द्वारा होने वाले पदार्थ का ज्ञान मति ज्ञान है। (Sensory and mental comprehension)

श्रुत ज्ञान–पढने और सुनने से पदार्थ का होने वाला ज्ञान श्रुत ज्ञान है। अथवा मति ज्ञान के बाद में होने वाला तथा शब्द और

अर्थ का पूर्वापर अनुसंधान और विशेष विचार करना श्रुत ज्ञान है। इस मे मन की प्रधानता है। जैसे 'घट' शब्द सुनने पर उसके निर्माता आकार, रंग, गुण जल धारण क्रिया आदि का विचार करना। (Verbal mental comprehension)

अवधि ज्ञान—इन्द्रिय तथा मन की बिना सहायता से रूपी पदार्थों का होने वाला मर्यादित ज्ञान अवधि ज्ञान है। इस ज्ञान में नेत्र आदि किसी पदार्थ को देख कर मन द्वारा उसके विषय में विचार कर वस्तु ज्ञान की आवश्यकता नही रहती बल्कि ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम से आत्म प्रदेशों से आवरण दूर हो जाने से आत्मा स्वय ही ज्ञान कर लेता है। अतः यह आत्मजन्य है। (Clairvoyance)

मन पर्याय—(Talepathy) इन्द्रिय एव मन की बिना सहायता के अढाई द्वीप मे रहे हुए सभी जीवो के मन के परिणामो—भावो का ज्ञान जिस से हो वह मन पर्याय ज्ञान है।

केवल ज्ञान—(Omniscience) केवल का अर्थ है सम्पूर्ण, अतएव मति आदि किसी ज्ञान की बिना अपेक्षा सम्पूर्ण लोक अलोक के मूर्त्त अमूर्त्त, सब पर्याय युक्त त्रकालिक ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है।

शेष ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा मर्यादित है, अपूर्ण है किन्तु केवल ज्ञान पूर्ण है।

तीन अज्ञान है—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान (wrong comprehension)

मति अज्ञान–आत्म विकास की दृष्टि से विपरीत तथा कुबुद्धि ही मति अज्ञान है। (Wrong non verbal comprehension)

श्रुत अज्ञान–भौतिकवाद के पोषण एवं उपयोग के लिये प्रेरणास्पद तथा आत्म-दृष्टि से प्रतिकूल साहित्य, शास्त्र ज्ञान श्रुत अज्ञान है अथवा (Wrong verbal comprehension)

विभंग ज्ञान–सम्यक्त्व युक्त अवधि ज्ञान अवधि ज्ञान कहलाता है किन्तु मिथ्यात्वी जीव को होने वाला अवधि ज्ञान विभंग ज्ञान कहलाता है। अथवा वि=विपरीत भंग=वस्तु विकल्प (Wrong clairvoyance)

इन्हें अज्ञान कहने का अर्थ है विपर्यय अर्थात् विपरीत रूप से वस्तु की विचारणा है। अथवा "वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर न जानने से यदृच्छोपलब्धि–विचार शून्य उपलब्धि के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है। जैसे कभी उन्मत्त मनुष्य भी सोने को सोना और लोहे को लोहा जान कर यथार्थ ज्ञान लाभ कर लेता है पर उन्माद के कारण वह सत्य असत्य का अन्तर जानने में असमर्थ होता है। इससे उस का सच्चा झूठा सभी ज्ञान विचार शून्य या अज्ञान कहलाता है।

कोई आत्मा किसी समय ज्ञान रहित नहीं होती किन्तु सम्यक्त्व मिथ्यात्व परिणामों के साहचर्य से ज्ञान सम्यग् ज्ञान और मिथ्याज्ञान बन जाता है।

दर्शन चार हैं–चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, केवल दर्शन।

चक्षु दर्शन–नेत्र द्वारा पदार्थ का जो सामान्य बोध होता है

उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। (Visual apprehension)

अचक्षु दर्शन—चक्षु इन्द्रिय नेत्र से भिन्न श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों तथा मन से होने वाले पदार्थ का सामान्य बोध अचक्षु दर्शन है (Non visual apprehension)

अवधि दर्शन—इन्द्रिय तथा मन की बिना सहायता के होने वाला रूपी द्रव्यों का मर्यादित एवं सामान्य बोध अवधि दर्शन है। (Clarivoyence apprehension)

केवल दर्शन—केवल दर्शनावरण कर्म के क्षय से होने वाला सकल पदार्थों का सामान्य ज्ञान केवल दर्शन है (Perfect apprehension)

कर्म आठ

दशवां बोल

कर्म किसे कहते हैं ?

'कर्म' का साधारण अर्थ तो कार्य प्रवृत्ति या क्रिया ही है। किन्तु जैन परिभाषा में योग और कषाय द्वारा आत्मा के साथ लगे हुए पुद्गल अर्थात् जड़ तत्त्व विशेष कर्म कहलाता है।

यह आठ प्रकार का है--

१ ज्ञानावरणीय कर्म	२ दर्शनावरणीय कर्म*
३ वेदनीय कर्म	४ मोहनीय कर्म
५ आयु कर्म	६ नाम कर्म
७ गोत्र कर्म	८ अन्तराय कर्म

—उत्त० प्रमा० अ०

परिभाषा

'कर्मवाद' सिद्धांत भारतीय दर्शन शास्त्र में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और यह प्राचीनतम है। इस का उद्गम जगत के अनूठे वैचित्र्य द्वारा हुआ है। हम देखते हैं

---

* नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नाम कम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥—उत्त० ३३।२।३

संसार में जीव अनन्त हैं किन्तु जीव स्वरूप से एक से ही हैं फिर भी भिन्न२ स्थिति में हैं–एक सुखी, एक दुखी कोई रंक कोई राजा एक शक्त एक अशक्त। और यहाँ तक कि एक ही मातृ कुक्षि से जन्म लेने वाले दो जीवों में विचित्र भिन्नता पाई जाती है। जब कि दोनों के साधन एक समान है। यह विचित्रता निहेतुक नहीं हो सकती; इसका कोई कारण अवश्य है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए सुखदायक और दूसरे के लिए दुखदायक हो जाती है। यह ऐसा क्यों ?

हां तो, शास्त्रकारों ने इन सब का एक ही उत्तर दिया है कि उत्त, आठ, कर्मों से बंधा हुआ जीव संसार में परिभ्रमण करता है। * जीव अनादि काल से कर्मवश हो नाना भवों में भ्रमण करता है। कर्म ही जन्म मरण का मूल है सुख-दुख का कारण है। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ फल प्राप्त करता है। जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। बिना कर्म के फल भुगते जीव मुक्त नहीं होता।

कर्म क्या है ? पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियां है, जो वर्गणाएं कहलाती हैं, उनमें एक कार्मण वर्गणा है, तथा वही कर्म द्रव्य है। † यह कर्म द्रव्य सूक्ष्म रज की भांति सम्पूर्ण लोक में व्याप्त

---

† *The entire cosmos is full of that kind fine matter which can become Karma Through the actions of body mind and speech the fine matter gets into the soul and is tied to it according to the modifications of consciousness of Kasayas ie anger pride deceit and greed*   * उत्त ३२।७

है। और यही योग द्वारा आकृष्ट हो कर (खिंच कर) जीव के साथ (आत्म प्रदेशों पर) बद्ध हो जाते हैं और 'कर्म' कहलाते हैं। अथवा मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग हेतुओं-कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है। "कीरइ जिएण हेउहिं जेणं तो भण्णए कम्मं।"

कर्म बंध के मूल कारण हैं— योग और कषाय। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति योग है तथा क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय कहलाते हैं। योग से आत्म प्रदेशों में स्पन्दन होने से स्वक्षेत्र स्थित आत्मा कर्म द्रव्यों-पुद्गलों को अपनी ओर खींचता है तथा कषाय से बंध पड़ता है अर्थात केवल योग से बन्ध निर्बल होता है और कषाय युक्त योग द्वारा कर्म बंध बलवान और दीर्घायु वाला होता है। कर्माणुओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर-वत् या लोह पिण्ड तथा अग्नि की भांति सम्बन्ध होना ही बंध है। अथवा नवीन कर्माणुओं का ग्रहण ही बंध है। ‡

---

† 'Jainism' does not meen by karma work and deed According to Jaina conception karma is an aggregate of me terial particles enters into the soul and produces changes in it It is a form of matters which produce a certain conditions in the mundane souls that are suffering from the shackles of birth and death form beginningless time — by M. L. Mehta

कर्म और उसकी परम्परा

कम विजातीय द्रव्य हैं यही कारण है कि आत्मा मे विकृति त्पन्न करते हैं और उससे वह पराधीन बनता है। शास्त्रकारों ने ताया है कि राग द्वेष, शरीर, इन्द्रियादि वे जीव के स्वभाविक रिणाम हैं स्वाभाविक परिणाम तो ज्ञान दर्शन–उपयोग ही हैं। त राग-द्वेषादि पर पदार्थों के वश हो आत्मा किसी पदार्थ को सुख रूप तो किसी को दुख रूप मानता है। यह सुख-दुख की नुभूति तो समाप्त हो जाती है किन्तु सस्कार रह जाते हैं जो समय पाकर जागृत होते हैं और अपना प्रभाव दिखाते हैं। उससे वृत्ति होती है, प्रवृत्ति सस्कारों को जन्म दे जाती है और सस्कार पुन प्रवृत्ति को जन्म देते है। इस प्रकार कर्म वृक्ष और बीज पिता और पुत्र की भांति हेतु हेतुमद्भाव सम्बन्ध वाले हैं।†

कम दो प्रकार के हैं— द्रव्य कर्म और भाव कम। कर्म वर्गणा के वे कर्माणु जो आत्मा के साथ मिल कर कर्मरूप मे परिणत हो जाते है द्रव्य कर्म कहलाता है। द्रव्य कम के ग्रहण मे निमित्त राग–द्वेष और प्रवृत्ति परिणाम को भाव कर्म कहते हैं। इसी के आधार पर जीव एक समय म ज्ञानावरण आदि सात कर्मों का बन्ध करता है। आयु कम का बन्ध कदाचित् होता है और नही भी। भाव कम के अभाव म या उपशांति से द्रव्य कर्म का आगमन नही होता।‡

---

†द्रव्य संग्रह, ‡*Karma are generally dealt with under two heads, (i) Bhava Karmas and (ii) Dravya Karma of these bhava Karmas signify different kinds of mental states of the Suol and Dravya Karmas the material forces forged in consequence of these mental states—' The practical Dharma" by C R Jain*

जीव और कर्म का यह सम्बन्ध अनादि अन्त है तथा जल प्रवाह की अपेक्षा अनादि अनन्त है। किन्तु इसका [illegible] अर्थ नहीं कि जीव कर्म से कभी मुक्त ही नहीं हो सकता। [illegible] दर्शन का कर्मवाद कर्म से पराधीन होने पर भी जीव को [illegible] स्वातन्त्र्य का अधिकार देता है। वह सर्वथा ही मूढ़, अज्ञानी [illegible] बन जाता। जिस प्रकार स्वर्ण और मिट्टी का परस्पर [illegible] अनादि से है किन्तु उसे तापादि क्रिया से शुद्ध [illegible] दिया जाता है तथा वे दोनों अलग २ हो जाते हैं और [illegible] सम्बन्ध नहीं होता। ठीक इसी प्रकार दान तप [illegible] पुरुषार्थ द्वारा जीव को भी शुद्ध किया जा सकता है। [illegible] कर्म मुक्त हुआ जीव पुनः कर्म से लिप्त नहीं होता [illegible] बन्ध को प्राप्त होते हैं जिस प्रकार बीज के [illegible] पर अंकुर का सद्भाव ही नहीं होता।

कर्मक्षय के उपाय —

कर्म क्षय के अनेक उपाय शास्त्रों में [illegible] प्राय बाह्य उपाय हैं, साधन हैं। मुख्य [illegible] ही है, परिणामों का अध्यवसाय है जो [illegible] ज्यों २ परिणाम भाव निर्मल होते जाते हैं [illegible] होती है। और एक समय ऐसा होता है [illegible] हो जाते हैं तथा आत्मा परम, विशुद्ध [illegible]

निजरा का अर्थ है आत्मा प्रदेशों पर रहे कर्मों का अंश रूप में जीर्ण होकर झड़ जाना अलग हो जाना। निर्जरा भी दो प्रकार की है—एक वह जो बद्ध कर्म अपना फल देकर अलग हो जाते हैं दूसरी वह जो अनुष्ठान (पुरुषार्थ) से की जाती है। यहाँ दूसरी से अभिप्राय है, प्रथम तो समय २ पर होती रहती है। अतएव मिथ्यात्व आदि बन्ध हेतुओं का सर्वथा परिहार और आत्मा का संवर मार्ग में गमन करते हुए निर्जरा का आश्रय लेना यही कर्म क्षय का उपाय है और इसे ही मोक्ष मार्ग कहा गया है—ज्ञान से वस्तु स्वरूप का जानना, दर्शन से उसका यथार्थ श्रद्धान करना तथा चारित्र से कषाय आदि निग्रह और तप से संचित कर्म का भूनना।*

> "नाणं च दंसणं चेव, चारित्तं च तवो तहा।
> एयं मग्ग मणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं।"

चारित्र नवीन कर्मों का रोकता है तो तप पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करता है। तप से जन्मान्तरों के कर्म नष्ट हो जाते हैं—

> "तवसा धुइण पुराण पावगं, तवेणं ववदाण जणयइ"

कर्म क्षय से लाभ :—

ज्ञानावरण कर्म के क्षय से आत्मा की अनन्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है। दर्शनावरण के दूर होने से दर्शन शक्ति, वेदनीय के क्षय से अनन्त सुख प्रकट होता है मोह कर्म के नष्ट होने पर सम्यक्त्व और चारित्र प्रकट होता है, आयु कर्म के नष्ट होने पर अजरता अमरता प्राप्त होती है तो नाम कर्म के क्षय से अमूर्तत्व गुण

---

* नाणेण जाणइ भावे ... नाण .. उत्त० २८/२/—

प्रकट होता है, गोत्र कर्म के नष्ट होने पर अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है। अन्तरायकर्म के नष्ट होने पर आत्मा को अनन्त और विपुल लाभ की प्राप्ति होती है।

कर्म स्वभाव एवं फल क्रिया —

मन आदि योग द्वारा जो कर्म पुद्गल आत्म प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं उनमें चार बातें पाई जाती हैं—स्वभाव, परिमाण, रस और अवधि।※

मूल रूप में कर्म (कार्मणवर्गणा जाति) एक ही प्रकार का है किन्तु आत्मा के साथ बद्ध होते हुए वे अनेक स्वभाव एवं अवस्था वाले बन जाते हैं। और इसमें निमित्त कारण है आत्म परिणाम। जितने अंश में सक्लिष्टता की वृद्धि होगी, अर्थात् कषाय तीव्र होंगे उतने ही अंश में कर्म अशुभ, निकाचित-दृढ़ होंगे तथा जितने रूप में सक्लिष्टता कम होगी, कषाय मन्द होंगे कर्म हल्के, निद्दत होंगे। इसी प्रकार स्वभाव का आधार भी परिणामों में राग-द्वेष की तीव्रता मन्दता ही है।

उदाहरण—जिस प्रकार आकाश से मेघ बरसता है, उसकी जलधारा एक परिमाण में एक स्वरूप (स्वाद-स्वभाव) वाली एक उद्यान पर पड़ती है। और सभी फल-फूल वाले वृक्ष-वल्लरियाँ पान करती हैं किन्तु उन सबका स्वभाव, स्वाद भिन्न २ है जब कि एक जैसा भाजन-पान मिला है, पर ऐसा क्यों? यह इसीलिए कि वर्षा जल को पौधों ने अपने २ मूल स्वभाव में परिणत कर लिए हैं कटु रस वाले ने उसे कटु, मधुर रस वालें ने मधुर बना लिया है।

इसी प्रकार उन गृहीत कर्माणुओं को भी आत्मा अपने तीव्र मंद कषाय एवं शुभ अशुभ योग से उसी प्रकार का बना लेता है। यही कारण है मूलतः कर्मों के आठ प्रकार किए हैं जो निम्न स्वभाव वाले हैं—ज्ञान का आवरक पट की भांति, दर्शन का अवरोधक द्वारपाल की तरह सुख दुःख का प्रदाता मधु लिप्त तलवार की तरह, विवेक विकल करने वाला मदिरा की भांति किसी शरीर विशेष में रोक कर रखने वाला कारावास की तरह, भिन्न २ आकृति एवं नामों से पुकारने में निमित्त, चित्रकार की तरह ऊंच नीच कहलाने में निमित्त, कुम्भकार की तरह, अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न होने देने वाला भंडारी की तरह, माना गया है। विशेष—

ज्ञानावरण—वस्तु के विशेष धर्म का बोध ज्ञान है और यह कर्म जो आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता है (अर्थात् ज्ञान तन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देता है") ज्ञानावरण है। जैसे, सूर्य को बादल ढांप देते हैं।

दर्शनावरण—वस्तु का सामान्य ज्ञान दर्शन है, तथा उसका आवरक कर्म दर्शनावरण है। जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में रुकावट डाल देता है उसी प्रकार जीव के दर्शन गुण में यह कर्म बाधक है।

वेदनीय—जिस कर्म से साता सुख, असाता दुख का अनुभव करता है, वेदता है वेदनीय कर्म है। यह दो प्रकार का है—साता-वेदनीय असातावेदनीय। पहला सुख का प्रदाता दूसरा दुख का देने वाला है। जैसे शहद से लिप्त तलवार सुख-दुख दोनों की ही कारण है।

मोहनीय—जिससे आत्मा मोहित हो सत असत् के विवेक से शून्य हो वह कम मोहनीय है। जसे मदिरा पान से मनुष्य उन्मत्त, विवेक विकल हो जाता है उसी प्रकार मोह कम से।

आयुष्य—वह कम जो जीव को मनुष्य, तियच देव और नारक शरीर में नियत समय तक बद रखता है आयुकम है। यह कम लोहे की बेडी के समान है जिसके खुले बिना स्वाधीनता का अनुभव नही हो सकता। हमारी यह जीवित दशा इसी कम का फल है।

नाम—जिस कम स जगत के प्राणियो के नाना आकार प्रकार वाले शरीरो की रचना होती है अर्थात नाना नामो से पुकारे जाय वह नाम कम है। जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रग सजो २ कर अपनी तूलिका की सहायता से नाना प्रकार के चित्र बनाता है।

गोत्र—वह कर्म जिससे जीव उच या नीच कहा जाय अथवा प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित कुल म उत्पन्न हो गोत्र कम है। जसे कुम्हार छोटे-बडे बर्तन बनाता है। वह कम, कुम्भकार की भाँति है। यह कम दो प्रकार का है—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

अन्तराय—अन्तराय का अर्थ है विघ्न, बाधा और वह कम जिससे जीव के इच्छित काय में बाधा पडे अन्तराय कम है। यह पाँच प्रकार का है।

उक्त आठ कम आठ ही स्वभाव वाले कहे गये
जीव को उक्त • का अनुभव करना

स्वकृत कर्म का फल जीव अकेला ही भोगता है, अर्थात् प्रत्येक जीव कर्म का स्वयं अर्जन कर उसका फल स्वयं ही वेदता है। ऐसा नहीं कि कर्म करे कोई और उसका फल कोई दूसरा ही भोगे तथा बद्ध कर्म के फल को पाने के लिए भुगतने के लिए प्राणी को किसी अन्य न्यायाधीश (ईश्वर आदि शक्ति) की अपेक्षा नहीं होती। जैन दर्शन का कर्मवाद कर्म का स्वयं फल देने का विधान करता है— कर्म भले ही जड़ हो किन्तु चेतन्य के साथ सबद्ध होने से चेतनवत हो जाते हैं, दूसरी बात उनमें कषाय आदि के कारण जिस रस की उत्पत्ति हो जाती है वह स्वयं निमित्त एवं स्थिति पाकर फल प्रदान कर देता है। फिर जड़ पदार्थ भी अपनी एक शक्ति रखते हैं जिसका प्रयोग और परिणाम प्रत्यक्ष देखा जाता है। उदाहरणार्थ मदिरा पान से मनुष्य उन्मत्त हो उठता है दुग्धपान से पोषण एवं भोजन से क्षुधानिवृत्ति है। जल से तृषा शांत होती है अतएव उन्मत्तता के लिए मदिरा को पुष्टता के लिए दूध को तृषोपशांति के लिए जल को अन्य किसी सहयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती उनके लिए अपनी स्वभाव शक्ति ही पर्याप्त है। इसी प्रकार कर्म फल प्राप्ति में भी किसी ईश्वरी, दैवीय शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती।

१० सूक्ष्म-सम्पराय गुण स्थान
११ उपशांत मोह गुणस्थान
१२ क्षीण मोह गुणस्थान
१३ सयोगी केवली गुणस्थान
१४ अयोगी केवली गुणस्थान †

—सम० १४ सम०

परिभाषा

जैन दर्शन के अनुसार आत्म विकास की चौदह श्रेणियां हैं। और इनका आधार आत्म बद्ध कर्म है जिसके अनुसार आत्मा के ज्ञानादि की एक विशेष स्थिति होती है। इसे ही गुण-स्थान कहा है। गुण से तात्पर्य आत्म स्वभाव से है और आत्म स्वभाव है ज्ञान दर्शन और चारित्र, "तत्र गुणाः, ज्ञान दर्शन चारित्र रूप स्वभाव विशेष" इनकी स्थिति विशेष गुण-स्थान है। अर्थात् जीव के स्वरूप विशेष को (भिन्न २ स्वरूपों को) गुण स्थान कहते हैं। जब आत्मा का आवरक कर्म कम होता है तो ये गुण अधिक शुद्ध हो जाते हैं। और आवरक कर्म के अधिक (गाढ) होने पर गुणों की शुद्धि कम हो जाती है और अशुद्धि बढ़ जाती है।

इस शुद्धि अशुद्धि के आधार पर आत्मा की विकास भूमिकाएँ

† मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगी अजोगि गुणा —कर्म २।२।

असंख्य प्रकार की हो जाती है किन्तु उनका संक्षेप में स्वरूप चौदह प्रकार का निर्धारित किया है। आगम में इस 'कर्म विशुद्धि मार्ग से जीव के चौदह स्थान' कहा है।* ये मोक्ष रूप महल में पहुंचने के लिए मानो चौदह सीढ़ियां हैं। पूर्व पूर्व गुण स्थानों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुण स्थानों में ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती है और अशुद्धि कम होती जाती है अतएव शुभ कर्म प्रकृतियां अधिक बंधता हैं और आगे योगों के निरोध कम के कारण शुभ का भी बंध क्रमशः रुक जाता है और आत्मा सर्वथा निष्कर्म बन जाता है।

मिथ्या दृष्टि गुणस्थान—आत्मा की तत्त्व श्रद्धान से विपरीत (अर्थात् अयथार्थ, अभिनिवेश, पक्षान्ध की) दृष्टि मिथ्या दृष्टि कहलाती है और उसी जो आत्मा की अवस्था है वह *मिथ्या दृष्टि गुणस्थान* कहलाता है। इस समय जीव की दृष्टि विपरीत होती है। वह कुदेव को देव अधर्म को धर्म तथा कुगुरु में गुरु बुद्धि रखता है। जिस प्रकार धतूरे के बीज खाने पर अथवा प्लीहा रोग वाले व्यक्ति को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है और उस पीली ही मानता है किन्तु वह होती नहीं, यह उसका दृष्टि विकार है।

सास्वादन गुण स्थान—अनं० कषायमोह कर्म के उदय से आत्मा गृहीत सम्यक्त्व का वमन कर मिथ्यात्व में आता है किन्तु आने से पूर्व सम्यक्त्व का यत्किंचित् आस्वादन रहता है, प्रतीति रहती है अतः वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उसकी गुण

* कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीव ठाणा प० त

अवस्था सास्वादन गुणस्थान है। यह अवस्था अत्यन्त स्वल्प समय तक रहता है अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण है*

मिश्र-दृष्टि गुण स्थान—तत्त्व के प्रति कुछ-सम्यग और कुछ मिथ्या दृष्टि है जिससे वह जीव मिश्र दृष्टि कहलाती है। जब आत्मा में ऐसे अधर्मसत्यमिश्रित अध्यवसाय-विचार उत्पन्न होते हैं, जिसमें सत्य असत्य दोनों का समिश्रण होता है वह अवस्था मिश्र गुण स्थान है। यह अवस्था दोलायमान होती है। इसमें दृढता का अभाव रहता है। मिथ्या गुणस्थान से यह ऊँचा है किन्तु पूर्ण विवेक के अभाव में तत्त्व के प्रति दृढ प्रतिज्ञ न होने से स्थिति डावाडोल रहती है। इसका काल अन्तमुहूर्त प्रमाण है।

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—सम्यग दर्शन के विघातक मोह कर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम होने पर आत्मा सम्यग् दृष्टि होता है किंतु जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत-मर्यादा, त्याग को धारण नहीं करता वह अविरति सम्यग् दृष्टि कहलाता है और उसकी अवस्था विशेष अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान है। विरति का अर्थ है व्रत, त्याग, चारित्र और अविरति—त्याग का न होना।

देशविरति गुण स्थान—सम्यग्दृष्टि होकर जो साथ ही किसी अंश में जीवन में त्याग को भी धारण करता है वह देश विरत

* सास्वादन सम्यक्त्व का स्वरूप देखें, तत्त्वचिन्तामणि भाग तीसरा 'मोक्षतत्त्व'।

विरताविरत कहलाता है। उस आत्मा का स्वरूप २ विशेष द॰ रतिगुण स्थान है। देश का अर्थ है आंशिक।

प्रमत्त संयत्त गुणस्थान—जिन्होंने अहिंसा आदि व्रता सब रूप में ग्रहण कर लिया है और हिंसा आदि पापों स या विरत हो गये हैं किन्तु अभी प्रमाद का सेवन करते हैं वे तसंयत कहलाते हैं अर्थात् प्रमाद है जिनमे अभी ऐसे साधु प्रमत्त त कहे जाते हैं और उनकी आत्मा की यह अवस्था विशेष प्रमत्त त गुणस्थान है।

अप्रमत्त संयत गुणस्थान—जो संयत निद्रा स्वरूप कषाय दि प्रमादों का सेवन नहीं करते जिससे ज्ञानादि गुण उज्जवल ो हैं और प्रमाद नष्टप्राय हो जाता है वे अप्रमत्त संयत कह- ते हैं और उनकी अवस्था विशेष अप्रमत्त संयत गुण स्थान है।

निवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान—आत्मा की वह अवस्था सम बादर-स्थूल सम्परायों—कषायों की विद्यमानता रहती है र उससे होने वाली परिणामों में तरतमता तथा निवृत्ति का अर्थ भिन्नता। अर्थात् ऐसी अवस्था वाले सम-समयवर्ती समस्त जीवों परिणाम भिन्न होते हैं—न्यूनाधिक शुद्धि वाले। इसे अपूर्वकरण कहते हैं क्योंकि करण का अर्थ है परिणाम या अध्यवसाय। ऐसे तपूर्व अध्यवसाय जो पहले कभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, यहां उत्पन्न ते हैं।

अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान—निवृत्ति बादर गुण- ... सूक्ष्म कषाय का अस्तित्व तो

तथापि अध्यवसायों में अधिक शुद्धि होती है और इसमें सम समय वर्ती जीवों के अध्यवसाय समान शुद्धि वाले होते हैं। अनिवृत्ति से अभिप्राय अभिन्नता है। इस गुणस्थान में आत्मा की वृत्ति केन्द्रित और सम समान हो जाती है और जीव की सूक्ष्मतर और अव्यक्त तर काम वासना (वेद) समूल नष्ट हो जाती है।

सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान—सूक्ष्म रूप में सम्पराय-कषाय और वह भी मात्र लोभ का अंश विद्यमान है जिसमें वह जीव है आत्मावस्था सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है। यहाँ से जीव दो प्रकार के हैं उपशमक और क्षपक।

उपशांत मोह गुणस्थान—उपशांत अंतर्मुहूर्त के लिए मोह कर्म उपशांत हुआ है वह उपशांत मोह गुण स्थान है। यहाँ मोह (लोभ अंश) क्षय नहीं उपशांत हो जाता है फलतः जीव पुनः नीचे गिरता है।

क्षीण मोह गुणस्थान—जिसका मोह क्षीण—नष्ट हो गया है वह जीव क्षीण मोह और उसकी अवस्था क्षीणमोह गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है किन्तु ज्ञान-दर्शन गुण के आवरक छद्म कर्म शेष रहते हैं अतः आत्मा सर्वज्ञ नहीं होता। इसीलिए इसे क्षीण कषाय छद्मस्थ गुणस्थान भी कहते हैं।

सयोगी केवली गुणस्थान—ज्ञानावरण आदि चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है जिन जीवों ने किन्तु मन, वचन और काय योग हैं अर्थात् योग युक्त जीव सयोगी-

केवली कहलाते हैं और उनका गुणस्थान सयोगी केवली गुणस्थान है।

अयोगी केवली गुणस्थान— उक्त केवल ज्ञानी का योग रहित हो जाना और उनकी शैलेशी—मेरु के समान निष्कम्प अवस्था अयोगी गुणस्थान है। इस गुणस्थान में जीव के मन, वचन काय योगों का निरोध हो जाता है। आत्मा पर्वत की भाँति निष्कम्प बन जाता है। चार घातिक कर्म नाम गोत्र अन्तराय और आयु नष्ट हो जाते हैं और आत्मा विशुद्धावस्था को प्राप्त होकर संसार अवस्था का अन्त कर देता है तथा वह गुणस्थानातीत होकर शाश्वत मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान का काल अत्यन्त स्वल्प है। अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतना ही काल इस गुण स्थान का है।

पांच इन्द्रियों के २३ विषय

बारहवां बोल

प्र०—इन्द्रिय विषय से क्या अभिप्राय है ?

उ०—श्रोत्र आदि इन्द्रियों के ग्राह्य पदार्थ विषय कहलाते हैं। अथवा इन्द्रियों की जिसमें विशेष रूप से प्रवृत्ति हो इन्द्रिय विषय कहे जाते हैं। मूल में ये पांच हैं—

१ शब्द २ रूप ३ गन्ध ४ रस ५ स्पर्श

—प्रज्ञा० १५

परिभाषा

सृष्टि में रहा हुआ सम्पूर्ण पदार्थ दो भागों में विभक्त है, रूपी, अरूपी अर्थात् मूर्त और अमूर्त। इसमें रूपी (मूर्त) इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है किन्तु अमूर्त नहीं। जैसे आत्मा, धर्मास्तिकाय आदि। रूपी का अर्थ है जिसमें शब्द, गन्ध, रस, रूप स्पर्श पाये जायं तथा जिसमें इनका अभाव हो वह अरूपी (अमूर्त)। रूप स्पर्शादि सन्निवेशो मूर्ति इति वचनात्, तदेषामस्तीति रूपिणः, और वह पुद्गल (Matter) कहलाता है क्योंकि मात्र पुद्गल द्रव्य ही रूपी है 'पुद्गल द्रव्य तु रूपि' और यही इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है अतएव विषय कहलाता है। आगम में पुद्गल परिणाम दस प्रकार का कहा गया है—वर्ण परिणाम, गंध परिणाम आदि। ‡

‡ प्रज्ञा० परिणाम पद १३

पुद्गल परिणाम से तात्पर्य है पुद्गल परमाणुओं की पर्याय विशेष अथवा परिणमन रूप। जिस प्रकार 'शब्द पुद्गल का पर्याय परिणमन रूप है, भाषा वर्गणा के पुद्गल समस्त लोक में बिखरे हैं किन्तु व्यक्ति के उच्चारण से वे शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। शेष रूप आदि शेष परिणाम पुद्गल के गुण होने से 'गुण' भी कहे जाते हैं।

मूलत पाच इन्द्रिया के पाच ही विषय हैं—शब्द, रूप, गध रस और स्पर्श। इनके अवान्तर भेद होने से ये तेइस प्रकार के विषय हो जाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय स्व २ अर्थ का ग्रहण करती है पर का नही अर्थात् कान सुनते ही हैं देखते नही, नासिका सू घती ही है पर सुनती नही। यही कारण है कि ये विषय अर्थ के नाम से पुकारे जाते हैं और पाच भेदों में विभक्त हैं। साथ ही पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान एक इन्द्रिय द्वारा नही अपितु पाँचों इन्द्रियों द्वारा होता है। क्योंकि वर्ण, गध आदि धर्म उसके प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त होते हैं जिन्हें इन्द्रिय स्व २ अर्थ को ग्रहण कर ज्ञान कराती हैं। जिस प्रकार एक मोदक का पाचो इन्द्रिया अपने विषय को ग्रहण कर ज्ञान कराती हैं—स्पर्शनेन्द्रिय छूकर कठोरता आदि का रसना कटुता आदि का नासिका सुगंध-दुर्गंध का तो नेत्र उसके पीत आदि रंग ज्ञान कराती है तथा श्रोत्र खात-ताडते हुए शब्दों का ग्रहण करता है इस प्रकार लड्डू का पूर्ण ज्ञान होता है।

उक्त शब्दादि विषय ही काम भोग कहलाते हैं। इन्हें 'काम गुण' भी कहा गया है। शब्द और रूप काम हैं तथा गध, रस, स्पर्श भोग। काम [illegible] तथा भोग ग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्ष विषय है

रूप और शब्द की लालसा ही काम है। मनावृति का यही सयोग जीव को कामी बनाकर ससार मे परिभ्रमण कराता है।

२४० विकार —

पाँच इन्द्रिया के दो सौ चालीस विकार हाते है —

श्रोत्र इन्द्रिय के बारह विकार—जीव शब्द अजीव शब्द और मिश्रशब्द। ये तीन शुभ और तीन अशुभ। इन छह पर राग और द्वेष=१२ हुए।

चक्षु इन्द्रिय के ६० विकार—कृष्ण आदि पाच वर्ण सचित्त, पाँच अचित्त और पाच मिश्र=१५ ये पन्द्रह शुभ और पन्द्रह अशुभ। इन ० पर राग और ३० पर द्वेष=६० हुए।

घ्राण इन्द्रिय के १२ विकार—सुगन्धि और दुर्गन्ध, ये दो सचित, २ अचित और २ मिश्र। इन छह पर राग और छह पर द्वेष=१२ हुये।

रसना इन्द्रिय के ६० विकार—कटु आदि पाच रस सचित्त ५ अचित्त तथा ५ मिश्र। ये १५ शुभ, १५ अशुभ। इन ० पर राग और ३० पर द्वेष=६० हुए।

स्पर्शन इन्द्रिय के ४८ विकार—कठोर आदि आठ स्पर्श सचित्त, ८ अचित्त और ८ मिश्र। ये २४ शुभ, २४ अशुभ। इन ४८ पर राग, ४८ पर

— ऊपर कहे गये पुद्गल परिणाम अर्थात इन्द्रिय विषय मनो-[illegible] के आधार पर विकृति उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं अतएव विकार के नाम से पुकारे जाते हैं। वर्ण आदि विषय दो प्रकार के हैं। [illegible] अशुभ। इनमे शुभ पर राग तथा अशुभ पर द्वेष भाव

मिथ्यात्व दश

तेरहवां बोल

मिथ्यात्व किसे कहते है?

जीव के अयथार्थ—विपरीत परिणाम अर्थात् अतत्व मे तत्व बुद्धि का होना मिथ्यात्व है अथवा जो पदार्थ जिस रूप मे है उसे उस रूप मे स्वीकार न कर भिन्न विपरीत रूप मे मानना मिथ्यात्व है।

(Blind and wrong faith or belief)

दस प्रकार का मिथ्यात्व—

१ जीव को अजीव मानना मिथ्यात्व है
२ अजीव को जीव मानना ,, ,,
३ धर्म को अधर्म मानना ,, ,,
४ अधर्म को धर्म मानना ,, ,,
५ साधु को असाधु मानना ,, ,,
६ असाधु को साधु मानना ,, ,,
७ मोक्ष मार्ग को ससार का मार्ग मानना ,, ,,
८ ससार मार्ग को मोक्ष मार्ग मानना ,, ,,
९ कर्म रहित को कर्म सहित मानना ,, ,,
१० कर्म सहित को कर्म रहित मानना ,, ,,

—स्था० १०

(इन्हें समझना, उपदेश देना आचरण करना मिथ्यात्व है)

परिभाषा

मिथ्यात्व जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। जो आत्मा के मिथ्या-परिणामों के लिए प्रयुक्त होता है। यहां अज्ञान से अभिप्राय नहीं है। सुदेव, सुगुरु, धर्म तथा नव सद्भाव पदार्थों (जीव आदि) पर यथार्थ श्रद्धा न करके कुदेव, कुगुरु अधर्म आदि पर श्रद्धा-विश्वास करना मिथ्या परिणाम है। यह जीव की एक दृष्टि है जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय मात्र से उत्पन्न होती है। इस समय आत्मा की रुचि सम्यग् न होकर मिथ्या होती है अतएव उसे मिथ्या दृष्टि कहा जाता है और तन्निमित्तक परिणाम मिथ्यात्व है। यह कर्म बन्धन एवं संसार भ्रमण का हेतु है आत्म-सुख के लिए शल्य रूप है। इसके अभाव में जीव सम्यक्त्व से युक्त होकर कर्म निरोध करता हुआ वीतरागता को प्राप्त हो जाता है।

इसका विपक्षी है सम्यक्त्व जो संवर रूप है, कर्म क्षय एवं निर्जरा का कारण है। आत्मा की स्वभाव परिणति है मिथ्यात्व विभाव परिणति है। यह आत्मा की सम्यग् दशा है। विचार का ही जीवन में मूल्य है यदि विचार सम्यग् हैं तो आचार और उच्चार भी सम्यग् हैं विचार मिथ्या हैं तो शेष भी मिथ्या हैं, भवभ्रामक हैं, कर्मबन्धक हैं।

तत्त्व—सद्भाव पदार्थको तत्त्व कहते हैं। अर्थात् जीव, अजीव पुण्य, पाप, आदि को तत्त्व कहा गया है। (Real substance) इन पर यथार्थ विश्वास करना सम्यक्त्व है और अयथार्थ-विपरीत विचार मिथ्यात्व है।

देव—राग-द्वेष से रहित जीवन मुक्त, आत्मा ही देव होते हैं अर्थात् अठारह दोष रहित सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहंत भगवान देव है। इससे विपरीत राग-द्वेष युक्त कर्म रज सहित आत्मा को देव मानना मिथ्यात्व है।

गुरु—अहिंसादि पाँच महाव्रतों के पालक, कषायों के उपशमक नवविध ब्रह्मचर्य पालक, द्रव्य भाव, सचित्त अचित्त परिग्रह को यथा स्थान त्याग एवं सांसारिक बन्धनों से रहित ही आत्म-साधक गुरु होते हैं इनसे ही प्रशस्तमार्ग मिल सकता है और वे ही मार्गदर्शक हैं। किन्तु इससे विपरीत लक्षणों वाले को त्यागी मानकर मार्गदर्शक गुरु मानना मिथ्यात्व है।

धर्म—अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है। इससे गिरता हुई आत्मा पुनः उत्थान की ओर अग्रसर होता है। इससे विपरीत हिंसा असंयम और भोग को धर्म मानना मिथ्यात्व है। अथवा सर्वज्ञ प्रणीत, कर्म क्षपक मुक्ति प्रदाता तत्त्व धर्म है।

जीवन के लिए देव आदर्श होता है, गुरु मार्गदर्शक तो धर्म गतिदायक और तत्त्व-श्रद्धा एवं ज्ञान तथा धर्म की प्राप्ति के लिए साधन रूप है।

इसी प्रकार जीव को अजीव मानना मिथ्यात्व है, जीव को जीव ही एवं अजीव अजीव मानना सम्यक्त्व है। सर्वज्ञ प्रणीत अहिंसा आदि धर्म को अधर्म मानना और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है इत्यादि समझना चाहिए। उक्त दश प्रकार का मिथ्यात्व देव, गुरु, धर्म और तत्त्व इन चारों में गर्भित हो जाता है।

पूर्व वर्णित गुणस्थानों में प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व ही है। और उस समय जीव की क्या दशा होती है यह इन दस दृष्टियों से भली भांति ज्ञान हो जाता है। अब तत्त्व के ज्ञान के लिये आगामी पाठ में तत्त्व का वर्णन किया गया है।

नवतत्त्व के ११५ भेद

चौदहवां बोल

प्र०—नव तत्त्व कौन से हैं और तत्त्व क्या है ?

"सद्भाव पदार्थ को तत्त्व कहते हैं अथवा वस्तु स्वरूप ही तत्त्व है, ये नव हैं —*

१ जीव तत्त्व	२ अजीव तत्त्व	३ पुण्य तत्त्व
४ पाप तत्त्व	५ आश्रव तत्त्व	६ संवर तत्त्व
७ निर्जरा तत्त्व	८ बन्ध तत्त्व	९ मोक्ष तत्त्व

— स्था० ९

परिभाषा

'तत्त्व' शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द बन गया है जो प्रायः जीव आदि नव पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है। उक्त नव मूल तत्त्व हैं शेष इन्हीं के अवान्तर भेद हुए हैं।

जीव—चेतना लक्षण वाला है, अचेतन अथवा जीव से भिन्न दूसरा जड़ पदार्थ अजीव है। शुभ कर्म पुण्य है जो सुख देने वाला है अशुभ कर्म पाप है जिससे दुःख होता है। आत्मा के लोक में कर्मों का

* नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो, आसवो संवरो, निज्जरा बंधो मोक्खो।

माना और उसके कारण आश्रव है अथवा कर्मों का आगमन आश्रव और उसका (आश्रव) का निरोध संवर है। निर्जरा—कर्मों का देशतः आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा है। बंध, आत्मा और कर्मपुद्गलों का नीर-क्षीर वत सम्बन्ध बंध है। मोक्ष सर्वरूप से कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।*

जीव तत्त्व के चौदह भेद

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद†	१ पर्याप्त	२ अपर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	३ पर्याप्त	४ अपर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	५ पर्याप्त	६ अपर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	७ पर्याप्त	८ अपर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	९ पर्याप्त	१० अपर्याप्त
पंचेन्द्रिय के चार भेद	११ संज्ञि	१२ असंज्ञि

१३ अपर्याप्त १४ अपर्याप्त

[गम १४]

परिभाषा

जीव के मोटे रूप से उपयुक्त चौदह भेद किए हैं। ये संसारी संसारी जीव के भेद हैं, मुक्त के नहीं। क्योंकि जीव मूलतः दो प्रकार के हैं सिद्ध संसारी, यहां संसारी से अभिप्राय है ये कर्म सहित होते हैं तथा सिद्ध—मुक्त जीव कर्म रहित होते हैं, वर्

* देखो दूसरा भाग

† एकेन्द्रिय के चार भेद—सूक्ष्म, बादर पर्याप्त, अपर्याप्त।

किसी प्रकार का इन्द्रिय आदि भेद नहीं होता अतः एकरूपता ही रहती है। संसार समापन्नग जीवों में विभिन्नता पाई जाती है क्योंकि यहा कर्म की प्रधानता है अतएव जन्म मरण, सुख दुख, शरीर, वर्ण आयु स्वभाव आदि नाना परिणतियां हैं।

जाति, इन्द्रिय आदि जालों में स्पष्ट किया जा चुका है कि इन्द्रिय के आधार पर जीव की अनेक श्रेणियाँ (classes और विभाग हो गये हैं। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि। यहां और अधिक स्पष्ट किया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों के दो भेद होते हैं—सूक्ष्म और बादर।

सूक्ष्म—वे जीव जो सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से सूक्ष्म कहलाए।

बादर—जिनके बादर नाम कर्म का उदय है वे बादर जीव।

यह हुई शास्त्रीय परिभाषा। इसके अनुसार सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है तो बादर लोक के एक देश—भाग में। सूक्ष्म जीव के शरीर तो दिखाई ही क्या देंगे जब कि बादर-जीव के शरीर भी अलग अलग नहीं दिखाई देते हां वे (शरीर) समुदाय रूप में दिखाई देते हैं जैसे—पृथ्वी जल, वनस्पति का स्थूल रूप।

व्यवहारिक दृष्टि से सूक्ष्म से तात्पर्य बारीक—जो आंखों अथवा अन्य साधन से भी न दिखाई दे सकें तथा बादर जो नेत्रों से दिखाई दे यानि स्थूल जीव। किन्तु यह अर्थ यहां अभीष्ट नहीं।

पर्याप्त से अभिप्राय पूर्ण से है अर्थात् स्वयोग्य पर्याप्तियां का पूर्ण करना, जिन जीवों ने स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं वे पर्याप्तक तथा जिन्होंने स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं की हैं वे अपर्याप्तक जीव कहलाते हैं। अपर्याप्त अपूर्ण।

संज्ञि मन वाले जो संज्ञि कहलाते हैं, गर्भज पाँच इन्द्रिय ाव संज्ञि होते हैं। इन्हें समनस्क भी कहा जाता है।

असंज्ञि मन रहित जीव असंज्ञि है, अमनस्क जीव, अगर्भज छिम जीव बिना मन वाले होते हैं।

प्रत्येक जीव जन्म समय से अन्तर्मुहूर्त काल तक अपर्याप्त ा है पश्चात् पर्याप्त होता है और कई जीव स्वयोग्य ाप्तियों के पूर्ण करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस ट से ये भेद प्रत्येक जीव में पाये जाते हैं।

अजीव तत्त्व के चौदह भेद

धर्मास्तिकाय के तीन भेद—

स्कन्ध १ देश २ प्रदेश ३

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद—

स्कन्ध १ देश २ प्रदेश ३

आकाशास्तिकाय के तीन भेद—

स्कन्ध १ देश २ प्रदेश ३

काल का एक ही भेद—काल

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद—

स्कन्ध १ देश २ प्रदेश ३ और परमाणु ४

[उत्त ३६/८-१०]

परिभाषा

जड लक्षण वाला तत्व अजीव क नाम से पुकारा जाता है। (Non living being) इस म अनुभव (Feeling) शक्ति का अभाव होने से सुख दुख का, क्रिया-कर्म का पाप-पुण्य का कोई प्रभाव नहीं।

अ+जीव=जीव का न होना अजीव है। जीव में उपयोग है, अजीव उपयोग शून्य है अतएव जीव से विपरीत है। जड लक्षण अथवा स्वरूप के आधार पर तो यह एक ही भेद से अभिहित किया गया है "एगे अजीवा" किन्तु मूर्त अमूर्त, क्रिया, प्रदेश, अवयव, अखण्डता आदि के कारण अनेक प्रकार का है।

स्वरूप भेद से अजीव दो प्रकार का है - मूर्त और अमूर्त। अर्थात रूपी अरूपी। जिसमें वर्ण गंध, रस और स्पर्श तत्व हों वह रूपी, तथा जिसमें इनका अभाव हो वह अरूपी होता है। क्योंकि वर्ण आदि के कारण ही वस्तु दृष्टिगोचर है।

अरूपी के चार भेद हैं--धर्म अधर्म आकाश और काल। यह अमूर्त है अखण्ड है अत एक प्रकार की शक्ति है इसे केवल अॅनर्जी (Energy) कहा गया है। व्यक्ति रूप से एक है तथा सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है प्रत्येक आकाश प्रदेश पर पृथक २ रूप में नहीं अपितु अखंड रूप में स्थित है। अतएव क्षेत्र आदि के कारण उसमें स्कंध देश, प्रदेश की कल्पना बुद्धि जन्य है तत्व जन्य नहीं। उक्त अस्तिकाय प्रदेश प्रचय हैं, किन्तु अवयव प्रचय नहीं।

काल के सम्बन्ध में आचार्यों के भिन्न २ मत है। कोई उसे प्रदेशात्मक तो मानते हैं किन्तु प्रदेश प्रचय स्कंध नहीं। तो कोई एक अखण्ड स्वीकार करते है। कई समय रूप और व समय अनन्त है "Time consists of an infinite number of individuals, atoms and units respectively" — *(The P P 26)*

रूपी का एक ही प्रकार है, वह है पुदगल (Matter)। यह वर्ण, गध, रस और स्पर्श गुण से युक्त है। यह भी अखड है मूर्त है, स्कन्ध देश, प्रदेश और परमाणु भेद वाला है। इसकी अखण्डता व्यक्ति रूप से नही अवयव प्रचय है। अर्थात् यह अनन्त परमाणुओ के समुदित रूप वाला स्कन्ध है। यहा प्रदेश की कल्पना बुद्धि और सत्त्वज य है। यह परमाणु के कारण ही अवयवो (खण्ड है)। सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।

पुद्गल का लक्षण ही इस बात का भान कराता है—पूरण गलन। बनना बिगड़ना। पुद + पूरण, गल + गलन।

स्कन्ध—अनन्त अणुओ (परमाणुओ) के समूह को स्कन्ध कहते है, अथवा सम्पूर्ण पिण्ड स्कन्ध है। यानि अखण्ड वस्तु को स्कन्ध कहा गया है।

देश—स्कन्ध के बुद्धि कल्पित भाग को देश (अश) कहते हैं।

प्रदेश—स्कन्ध या देश में मिले हुए अति सूक्षम भाग को निरश अश या प्रदेश कहते हैं।

परमाणु—पुदगल का वह अति सूक्षम भाग जिसका विभाग न हो सके अथवा जिसका विभाग नही और जो स्कन्ध से अलग हो चुका है ऐसा अश परमाणु कहलाता है। प्रदेश और परमाणु म केवल यही अन्तर है कि प्रदेश स्कन्ध के साथ जुडा रहता है और परमाणु अलग होता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अखण्ड वस्तु स्कन्ध हैं। इनका स्कन्ध अनन्त अणुओ का समुदाय नहीं। केवल प्रदेश प्रचय रूप है। ˆ कारण हैं कि इनमे 'परमाणु' नामक चौथा

भेद नहीं है। देश प्रदेश भेद नो वस्तु सूक्षम के कारण मात्र बुद्धि कल्पित ही हैं वास्तविक नही और वह उसम पृथक नही हो सकता।

पुद्गल स्कन्ध अनन्त परमाणुओ का समुदित रूप है अवयव प्रचय है, और यह प्रत्यक्ष देखा भी जाता है क्योकि यह रूपी (मूर्त) है। धर्म आदि अरूपी (अमूर्त) हैं अत वस्तुज्ञान के लिए देश प्रदेश की कल्पना की गई है।

पुण्य तत्त्व के नव भेद

१ अन्न पुण्य	२ पान पुण्य	३ लयन पुण्य
४ शयन पुण्य	५ वस्त्र पुण्य	६ मन पुण्य
७ वचन पुण्य	८ काय पुण्य	६ नमस्कार पुण्य

[स्था० ६]

परिभाषा

पुण्य शुभ कर्म है आत्मा का सहायक है, क्योकि यह शुभ भावनाओ से अर्जित किया जाता है इसलिए सुखद है। इसका उपार्जन कठिनता से किन्तु उपभोग सुगमता से होता है। यह निर्जरा मे सहकारी साधन है। पुण्य की परिभाषा है—"वह क्रिया जो पाप-पक-मल स मलिन प्राणी को पवित्र करती है।'

पुण्य का उपार्जन उक्त नव कारणो स होता है अत य ही पुण्य भेद के नाम से प्रसिद्ध है। कर्म स एक ही किन्तु क्रिया स पुण्य नव प्रकार का है। पुण्य की दो अवस्थाए हैं—उपादेय और हेय। साधन की उपलब्धि के लिए, यानि प्रथम अवस्था मे उपादेय—ग्राह्य तथा अन्तिम अवस्था म हेय हैं। मोक्ष के लिए शुभकर्म का

भी आत्मा से पृथक होना अनिवार्य है अस्तु पाप को लौह बेड़ी और पुण्य को स्वर्ण बेड़ी की उपमा दी गई है।

आत्मा के लिए यह आवरण है। जैसे, स्वर्ण बेड़ी भी है तो बन्धन ही। पुण्य का प्रतिफल भौतिक एवं आध्यात्मिक साधना की अनुकूलता है अर्थात् पुण्य के कारण जीव मनुष्य शरीर, देव जीवन, शुभ आयु बल, वर्ण, रस स्पर्श आदि को प्राप्त करता है। यानि नव प्रकार से अर्जित पुण्य ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

अन्न पुण्य * से अभिप्राय भूख मिटाने के लिए भोग्य योग्य पदार्थ का देना है, केवल धान्य से अभिप्राय नहीं।

पान पुण्य प्यास मिटाने (तृषोपशांति) के लिए पानी, दूध आदि पेय पदार्थ का देना।

लयन पुण्य लयन का अर्थ है स्थान, स्वरक्षित अथवा धर्मशाला आदि का दान देना लयन पुण्य है।

—भूखे को भोजन, प्यासे को पानी, यात्री, अतिथि को स्थान शय्या, पट्ट, चारपाई वस्त्र आदि देना तथा मन में शुभ विचार रखना, वाणी का हित मित एवं सम्भाषण काया द्वारा दुःखी, [illegible] अथवा गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा करना और गुणी पुरुषों का [illegible], नमस्कार करना, ये पुण्य के काम हैं।

पाप तत्व के अठारह भेद

प्राणातिपात	१	मान	७	[illegible]	१३
मृषावाद	२	माया	८	[illegible]	१४
अदत्तादान	३	लोभ	९	[illegible]	१५

मैथुन	४	राग	१०	रति अरति	१६
परिग्रह	५	द्वेष	११	माया मृषा	१७
क्रोध	६	कलह	१२	मिथ्यादर्शन शल्य	१८

[प्र० १ ६]

परिभाषा

आत्मा को जो मलिन करे उसे कर्म को पाप कहते हैं अर्थात अशुभ भाव (योग) से किया गया कर्म पाप है। यह आत्मा के लिए दुखकारी है, जन्म मरण का कारण है, कटुफल वाला और बुरी प्रवृत्ति वाला होने से दुख का मूल कारण है।

उपर्युक्त १८ पाप (अशुभ कर्म) के कारण हैं क्योंकि ये अशुभ मन, वचन और काया द्वारा संचित किए जाते है अत स्वय पाप हैं। यह ८२ प्रकार से भोगा जाता है—

ज्ञानावरण आदि आठ कर्म का उदय भाव से, अशुभ शरीर, तिर्यच गति, नरक गति, अशुभ वर्ण अशुभ स्वर, अशुभ चाल हीन इन्द्रिय आदि इसी के फल हैं। यानि पापकर्म के फल स्वरूप जीव जीवन के अशुभ साधनो को प्राप्त करता है। पाप का अर्जन तो सुखकर है किन्तु भोगना अतीव दुखकर है। इसमे आत्मा मृत्तिका और वस्त्र से लिप्त तुम्ब-पात्र की भाँति भारी हो जाता है जैसे यह पात्र भारी होकर जल में डूब जाता है उसी प्रकार आत्मा भी नरक आदि निम्न (नीच) गतियो में चला जाता है।

यह (पाप) सर्वदा और सर्वथा हेय ही होता है।

प्राणातिपात—प्राणा का विनाश, प्राणी के श्रोत्र, नेत्र आदि शक्तिया का अपहरण करना, नष्ट कर देना, अथवा जीवन रहित करना प्राणातिपात है। हिंसा।

मृषावाद—असत्य बोलना अदत्तादान अदत्त+आदान, बिना दी वस्तु, ग्रहण करना, चोरी मैथुन—व्यभिचार परिग्रह—ममता, राग—मन पसन्द वस्तु पर स्नेह भाव द्वेष—अमनोज्ञ वस्तु पर घृणा भाव, अभ्याख्यान—किसी पर झूठा कलक देना पैशुन्य—दूसरे की चुगली करना, पर परिवाद—निन्दा करना, रति—मनोज्ञ वस्तु की प्रीति अमनोज्ञ वस्तु पर घृणा अरति है‡ माया-मृषा—कपट-पूर्ण झूठ बोलना, मिथ्यादर्शन-शल्य—मिथ्यात्व रूपी काटा, कुदेव, कुगुरु कुधर्म, अतत्व मे (श्रद्धा) तत्त्व बुद्धि रखना।

आश्रव तत्व के बीस भेद

पाच आश्रव

१ मिथ्यात्व आश्रव २ अव्रत आश्रव

३ प्रमाद आश्रव ४ कषाय आश्रव

५ अशुभयोग आश्रव

पाच अव्रत

१६ प्राणातिपात आश्रव १७ मृषावाद आश्रव

१८ अदत्तादान आश्रव १९ मैथुन आश्रव

२० परिग्रह आश्रव

‡अकुशल अशुभ अनुष्ठान में आदर रति, कुशल अनुष्ठान के प्रति अनादर अरति है।

पाच इन्द्रिय

६ श्रोत्र-इन्द्रिय-प्रवृत्ति आश्रव ७ चक्षु' इन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव
८ घ्राण इन्द्रिय-प्रवृत्ति आश्रव ९ रसन इन्द्रिय-प्रवृत्ति आश्रव
१० स्पर्शन इन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव

तीन योग

११ अशुभ मन योग आश्रव १२ अशुभ वचन योग आश्रव
१३ अशुभ काय योग आश्रव

दो अयतना

१४ भण्ड-उपकरण अयतना से लेना रखना
१५ शुचि-कुशाग्र मात्र पदार्थ अयतना से लेना रखना

[सम० स्था०]

परिभाषा

आत्मा रूप लोक मे कर्माणुओ का आना तथा आने का कारण ही आश्रव है। मिथ्यात्व आदि इसके प्रवेश द्वार है कारण हैं। क्योंकि इन्ही के द्वारा आत्मा में मल आता है। आश्रव संवर निर्जरा तथा मोक्ष का बाधक है जब तक आश्रव है तब तक आत्मा गुरुदशा में रहता हुआ ससार भ्रमण करता है। आश्रव से मुक्ति ससार से मुक्ति है।

आश्रव का स्वरूप मनीषियो ने एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया है—'जीव रूप तालाब मे आश्रव रूप नालो (जलमार्गों) से शुभ

भण्ड=पात्र, उपकरण–वस्त्र आदि (संयम साधनों) वस्तु का अयतना–असावधानी से उठाना प्रयोग में लाना और रखना, इसी प्रकार सुई कुशा–तृण घास आदि को अयतना पूर्वक उठाना, उपयोग मे लाना और रखना आश्रव है।

सवर तत्त्व बीस भेद

पाच सवर

१ सम्यक्त्व सवर २ विरति (व्रत) सवर
३ अप्रमाद ४ अकषाय सवर
५ शुभयोग सवर

पाच व्रत

६ प्राणातिपात विरमण सवर ७ मृषावाद विरमण सवर
८ अदत्तादान विरमण सवर ९ मैथुन विरमण सवर
१० परिग्रह विरमण सवर

पाँच इन्द्रिय

११ श्रोत्र इन्द्रिय निग्रह सवर १२ चक्षु इन्द्रिय निग्रह सवर
१३ घ्राण इन्द्रिय निग्रह सवर १४ रसन इन्द्रिय निग्रह सवर
१५ स्पर्शन इन्द्रिय निग्रह सवर

तीन योग

१६ शुभ मन योग सवर १७ शुभ वचन योग सवर

१८ शुभ काय योग संवर

१९ भण्ड-उपकरण यतना से लेना रखना संवर
२० शुचि कुशाग्र मात्र पदार्थ यतना से लेना, रखना, संवर
[सम० स्था०]

परिभाषा

आश्रव का निरोध ही संवर है। अथवा मिथ्यात्व आदि द्वारा द्वारा आते हुए कर्माणुओं का निरोध रोकना संवर कहलाता है अर्थात् उन मार्गों या कारणों का बन्द कर देना संवर है।

"सावृणोत्यागच्छद्‌यदाश्रव द्वाराणि अथवा संव्रियन्ते निवार्यन्ते समागच्छन्ति कर्माणि यस्मात् स संवर"

संवरावस्था आत्मा में नवीन कर्मों के आगमन का बहिष्कार करती है, पुरातन कर्म की निर्जरा में सहायक होता है। संवर के अभाव में आत्मा शुद्धि मार्ग में नहीं आ सकता और न ही अगुरु-लघुत्व जो कि आत्मा का अपना गुण है उसे प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार छिद्रों वाली नौका जल भार से युक्त हो कर डूब जाती है। उसे बचाने का एक मात्र उपाय उन छिद्रों को जिन से जलस्राव होता है, बन्द करना है। इसी प्रकार आत्मा के पतन और उसके कारणों का जिन से आत्म प्रदेशों पर कर्म मल आता है, निरोध करना अनिवार्य है।

यह निरोध दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ का। अशुभ कर्म अथवा योग से निवृत्त होना यह संवर का प्रथम रूप है तथा शुभ का निरोध अंतिम अवस्था में संभव है। स्थूल दृष्टि से प्रथमावस्था को ही संवर मान लिया जाता है किन्तु यह संवर की पूर्णता नहीं है शुभ, अशुभ दोनों कर्म प्रवाहों का निरोध संवर

का स्वरूप है । "सर्वेषामास्रवाणां तु निरोध सवर स्मृत' यह अवस्था योगों के निरोध समय मे ही सभव है और तभी शलेशी अवस्था आती है । अर्थात चौदहवें गुण स्थान मे आती है । अतएव भगवती सूत्र में आत्मा ही सवर है' कहा गया है ।

आश्रव और सवर मे केवल यही अन्तर है कि आस्रव प्रवृत्ति रूप होता है और सवर निवृत्ति । यही कारण है कि दोनों के साधन (आतरिक और बाह्य) बिल्कुल विपरीत हैं। एक के परिणामो में वक्ता सक्लेश है तो दूसरे क भावो म ऋजुता, लघुता, नम्रता, असकलेश ।

सवर के कारण

सम्यक्त्व, त्याग, जागृति, अकषाय और योगो का शुभ व्यापार, शुभ परिणामो का द्योतक है अत अशुभ कर्मों का निराकरण और शुभ कर्मो का आगमन है सवर है। अथवा योग निरोध ही सवर है ।

अहिंसा आदि पाच व्रत भी सवर के कारण है इससे आत्मा म कर्माणुओ के आगमन का निरोध होता है ।

श्रोत्र आदि पाच इन्द्रियो का राग द्वेष से उपरत रहना अर्थात् इनका निग्रह करना सवर है ।

मन वचन और काय योगो की कुशलप्रवृति सवर है । मन मे चि तन, वाणी मे मौन तथा शरीर म कायोत्सग ये क्रियाएँ निरोधक हैं अथवा विवेकपूर्ण, यतना पूर्ण भला सावधा बोलना और करना सवर है ।

भण्ड उपकरण आदि पदार्थों तथा सुई, कुश, तृण आदि का यतना (सावधानी पूर्वक) से ग्रहण करना, उपयोग में लेना और रखना सवर है ।

संवर के स्वरूप का निम्न रूपक से पुन जानने की चेष्टा कीजिए—"जीव रूप तालाब में आश्रव रूप नालों (जल मार्गों) द्वारा आते हुए शुभ-अशुभ कर्म रूप जल का नियम रूप पाल अथवा पट्टों से रोकना ही संवर तत्त्व है।"

उक्त जघन्य भेद हैं, संवर के ५६ उत्कृष्ट भेद होते हैं।

संवर द्रव्य भाव भेद से दो प्रकार का है—विवेक पूर्ण क्रिया से आते हुए कर्म पुद्गलों का रुक जाना द्रव्य संवर तथा भव हेतु बन्ध हेतु का त्याग अथवा अन्तःकरण की विवेक पूर्ण प्रवृत्ति, असंक्लिष्ट परिणाम भाव संवर है।

निर्जरा तत्त्व के बारह भेद

बाह्य तप—

१ अनशन तप २ उनोदरी तप ३ भिक्षा चर्या
४ रस परित्याग तप ५ काय-क्लेश तप ६ प्रतिसंलीनता तप

आभ्यन्तर तप

७ प्रायश्चित्त तप ८ विनय तप ९ वैय्यावृत्य तप
१० स्वाध्याय तप ११ ध्यान तप १२ व्युत्सर्ग तप

[उत्त ३]

परिभाषा

आत्म प्रदेशों से कर्म प्रकृतियों का (कर्माणुओं) का एक देश (अंश) से पृथक् होना निर्जरा मोक्ष का कारण है। इससे आत्मा लघुता (हल्कापन) को प्राप्त होता है। संवर नवीन कर्म का निरोधक है तो निर्जरा प्राचीन कर्मों का जो आत्मा पर आवरण रूप में विद्यमान है, नाशक है। निर्जरा स्वयं आत्म-स्वरूप ही है।

यूं तो जीव समय २ पर कर्म बंध, अनुभव और उसका निर्जरण करता ही रहता है किंतु वह संवर पूर्वक निर्जरा नहीं होती, सानुष्ठान निर्जरा कर्म प्रदेश और विपाक दोनों का क्षय करती है। यही प्रदेशोदय और विपाकोदय निर्जरा कहलाती है।

अनुष्ठान भेद से निर्जरा पुनः दो प्रकार की है—सकाम और अकाम।

ज्ञान युक्त अथवा इच्छापूर्वक किया गया अनुष्ठान कि 'अमुक क्रिया से कर्म क्षय होंगे' सकाम निर्जरा है। अथवा इच्छापूर्वक किए जाने वाले अनुष्ठान से कर्म का क्षय होना सकाम और अनिच्छापूर्वक हुए अनुष्ठान में कर्म निर्जरा अकाम निर्जरा है।

सकाम में ज्ञान और इच्छा की प्रधानता होती है तथा अकाम निर्जरा में विवेक और इच्छा का अभाव रहता है। उसमें विवशता अनिच्छा तथा अज्ञान अविवेक की मात्रा अधिक रहती है। जिस प्रकार वैधव्य अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन, भय के कारण तप का आचरण आदि।

निर्जरा मोक्ष एवं देवत्व का मूल कारण है। इससे कर्म मुक्ति होती है। एक आचार्य निर्जरा की उत्कट परिभाषा करते हैं—भव-भ्रमण के कारण भूत कर्मों का जीर्ण होना—जर्जर हो जाना निर्जरा है।

पूर्वाचार्यों ने एक रूपक द्वारा भी निर्जरा का स्वरूप समझाया है—'जीव रूप वस्त्र जो कर्म रूप मल से मलिन हो रहा है उसे ज्ञान रूप जल, चारित्र (तप संयम) रूप क्षार से धोकर निर्मल करना निर्जरा है।'

यह निर्जरा भी दो प्रकार की है द्रव्य निर्जरा भाव निर्जरा

कम पुद्गला का आत्म प्रदेशा से अश रूप म पृथक होना द्रव्यनिजरा है तथा निर्जरा म निमित्त शुद्ध आत्म अध्यवसाय परिणाम भाव निजरा है।

पुरातन पाप की शुद्धि अनुष्ठान मे बताई गई है और वह अनुष्ठान तप कहलाता है। तप स अभिप्राय है जो तपाये, वासना का दूर करन तथा आत्म बल को जागत करने के लिए मन इद्रिया को जिसमे तपाया जाये वह तप है। उक्त अनुष्ठान क्रिया भेद से बारह प्रकार का है अत तप के बारह भद हो गए हैं, निजरा के कारण होने से वे भी निजरा के भद कहे जाते हैं अर्थात् तप हो निजरा है— 'बारसविह तवो निज्जरा " क्याकि कारण काय म का उपचार होने से कारण कम बन जाता है।

यह तप भी शरीर और मन की क्रिया से दो प्रकार का है बाह्य और आतरिक। जिसमे शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा रखता हो और जो दूसरा को दिखाई दे सके वह बाह्य तप है।

जिस तप म मानसिक क्रिया की प्रधानता है, तथा जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्या की अपेक्षा न रखन के कारण दूसरा को भी न दिखाई दे सके वह आ तरिक आभ्यन्तर तप है।' प्रथम के छह बाह्य हैं और अ त क आभ्यतर।

अनशन—उपवास आदि, उनादरी—भूख स कम खाना भिक्षाचरी— निर्दोष आहार ग्रहण करना, रसपरित्याग—घी आदि रस अर्थात् स्वादु भोजन का त्याग प्रतिसलीनता— आबादि विषयादि उत्पन्न करन वाल ससर्गों से दूर रहना, एका त निवास, काय क्लेश—नियम, उपनियम के पालन से होने वाला शारीरिक

कष्ट वीरासन आदि, प्रायश्चित—दोषो की शुद्धि करना, जिससे नियम उपनियम मे प्रमाद आदि से लगे हुए दोषा की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त,—जसे आलोचना आदि।

विनय—देव गुरु आदि पूज्य वग का आदर-सत्कार करना, ज्ञान आदि का बहुमान वय्यावृत्य—सेवा, पूज्य वग की सेवा शुश्रूषा करना, स्वाध्याय—ज्ञान प्राप्ति के लिए शास्त्रादि पढना-पढाना। वाचनादि। ध्यान—चित्त की एकाग्रता मन को स्थिर करने के लिए किसी पद विशेष का आलबन ले मानसिक वृत्तियो को केन्द्रित करना। व्युत्सग—विशेष प्रकार से देह की ममता का त्याग, काय की चेष्टा का निरोध।

बन्ध तत्व के चार भेद

१ प्रकृति बन्ध २ प्रदश बन्ध
३ स्थिति बन्ध ४ अनुभाग बन्ध

[स्था० ४]

परिभाषा

कमाणुओ तथा आत्म प्रदेशा का एकी भाव ही ब ध है। यह (बन्ध) एकीभाव नीर-क्षीर (दूध पानी) अग्नि और लोहपिण्ड की भाति होता है। अथवा योग और कषाय आदि शुभाशुभ परिणामा द्वारा कम समूह का आत्म प्रदेशो पर इलायची दाने पर चीनी की चासनी तरह जमा हो जाना, ब ध है। ब ध आत्मा का बाधक है। इसस आत्म स्वातत्र्य नष्ट होने पर जीव पराधीन सा बन

जाता है। बन्ध जीव स्वरूप नहीं अजीव भेद है। आत्म स्वरूप का आच्छादन बन्ध के कारण ही है, बन्ध का उच्छेद ही मोक्ष है।

स्वरूप भेद से बन्ध चार प्रकार का है —

प्रकृति बन्ध—जीव द्वारा ग्रहण किए गए कर्म पुद्गलों में अच्छे-बुरे विभिन्न स्वभावों का उत्पन्न होना प्रकृति बन्ध (Nature of Karma) है।

प्रदेश बन्ध—आत्मा के प्रदेशों पर कर्माणुओं का एक संख्या रूप में जमा होना अथवा कर्म प्रदेशों का समूह प्रदेश बन्ध है। (Quantity of matter)

स्थितिबन्ध—उन आए हुए कर्म पुद्गलों के वहाँ रहने की कालावधि अथवा आत्म प्रदेशों पर रहे कर्मों का अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए अमुक काल तक वहाँ (आत्म प्रदेशों) पर रहने की समय मर्यादा स्थिति बन्ध है। (Duration of Karma)

अनुभाग बन्ध—आत्म प्रदेशों पर रहे कर्म प्रदेशों (कर्म पुद्गलों) में मंद या तीव्र फल देने की न्यूनाधिक शक्ति को अनुभाग अनुभाव या रस बन्ध भी कहते हैं। (Intensity of fruition)

उक्त चारों में से प्रथम के दो—प्रकृति और प्रदेश, मन वचन और काय योग द्वारा तथा अन्तिम दो (स्थिति और रस) क्रोधादि कषाय द्वारा बंधते हैं। योग कर्माणुओं को आकर्षित करते हैं तो कषाय उसे जमाते हैं। यों तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कर्म बन्ध के हेतु हैं, कारण हैं। किन्तु उक्त दोनों (योग-कषाय) मुख्य हैं।

विशेष—कर्म-बन्ध के विशेष स्वरूप के ज्ञान के लिए देखिए बाल संख्या दस 'कर्म ग्रन्थ'।

मोक्ष के चार भेद

१ सम्यग् ज्ञान २ सम्यग् दर्शन
३ सम्यग् चारित्र ४ सम्यग् तप

[ई० २८]

परिभाषा

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद कषाय और योग द्वारा संचित किए गए अष्ट विध कर्मों से आत्मा का सर्वथा और सर्वदा के लिए विलग हो जाना ही मोक्ष है। अर्थात् "कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्ष" सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना ही मोक्ष है।

यह आत्मा की स्वतंत्र अवस्था है। इस मे कभी किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता क्योंकि भेद का कारण ही नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने स्वभाव मे ही रहता है। इसलिये 'A Complite freedom of the soul' कहा गया है।

उक्त विशेषता के कारण ही मोक्ष के भेद नहीं किये जा सकते यह तो एक ही है अपितु उसे उक्त चार कारण से प्राप्त किया जा सकता है और वे कारण आत्म गुण होने से मोक्ष स्वरूप है निष्कर्ष निकला कि "ज्ञान दर्शन, तथा चारित्र और तप के सहयोग से संवर एवं निर्जरा की साधना से कर्म क्षय होने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन रहना मोक्ष का स्वरूप है।'

आत्मा से अंश रूप में कर्मों का अलग होना निर्जरा और सर्वरूप में अलग हो जाना मोक्ष है। मुक्त आत्मा पुन जन्म मरण नहीं करता, उसने भव भ्रमण के मूल कारण का उन्मूल कर दिया

होता है क्योंकि 'कम्म जाइमरणस्स मूलं' कर्म ही जन्म मरण का मूल है। मूल के अभाव में वृक्ष का सद्भाव ही कहाँ? कारण की अविद्यमानता में कार्य-सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता अतः मुक्त आत्माएँ उस दग्ध बीज की भांति है जो फिर से अंकुर रूप में नहीं आता, उनकी जनन शक्ति नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार राग द्वेष कर्म रहित आत्मा संसार में जन्म मरण नहीं करता।

आत्मा अगुरुलघु द्रव्य है, वह अग्निशिखा तथा तूम्बे की तरह ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है कर्म बन्ध अवस्था में वह गुरुतर हो जाता है। जिस प्रकार मिट्टी के लेपन से तूम्बा भारी हो कर जल में डूब जाता है और हल्का होने पर जल की सतह पर आ जाता है इसी प्रकार आत्मा भी ज्यों २ हल्का होता है त्यों २ नरक आदि निम्न स्थानों से ऊंचा उठता हुआ एक समय मोक्षावस्था में आ जाता है। आत्मा इस समय पूर्ण, शुद्ध बुद्ध, अकर्म, और अशरीरी हो जाता है।

मुक्तावस्था के आधार पर ही जीव में भेद बना हुई—सिद्ध और संसारी संसारस्थ और मुक्त।

संसारस्थ जीव भी दो प्रकार के हैं—भव्य और अभव्य। जिनमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है वे भव्य तथा जिनमें योग्यता नहीं है वे अभव्य कहलाते हैं।

करुणा, पश्चाताप तथा कल्याण की इच्छा भव्य जीवों के लक्षण हैं। इससे विपरीत निर्दयता, और कल्याण का विचार ही उत्पन्न न होना अभव्यता है।

卐

'मोक्ष' के अधिक ज्ञान के लिए देखें इसी पुस्तक का दूसरा भाग।

आत्मा आठ

पन्द्रहवां बोल

आत्मा किसे कहते हैं ?

जिस पदार्थ में उपयोग संवेदन तथा चेतना, शक्ति पाई जाती है वह 'आत्मा' कहलाता है। सजीवनी शक्ति आत्मा है। यह अमूर्त है, शाश्वत है। चेतना के कारण ही जीवित रहता है और जानता है।

(The soul, A real substance)

विशेष गुण एवं विभाव की अपेक्षा मूल में आत्मा आठ अवस्था वाला होता है अस्तु आत्मा आठ प्रकार कार का है—†

१ द्रव्य आत्मा	२ कषाय आत्मा
३ योग आत्मा	४ उपयोग आत्मा
५ ज्ञान आत्मा	६ दर्शन आत्मा
७ चरित्रात्मा	८ वीर्य आत्मा

[भग० १२।१०।४६७]

परिभाषा

पूर्व बोल में नव तत्त्वों का विधान है और प्रस्तुत बोल में आठ आत्मा का। उन तत्त्वों में जीव और अजीव ही मुख्य हैं शेष तो इन्हीं के रूप हैं। इनमें भी जीव ही कर्ता है, भोक्ता है अतः

† "अट्ठ विहा आया पण्णत्ता। तंजहा—दवियाए कसायाए, जोगाया, उवओगाया, णाणाया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।"

चेतना, गुण (उपयोग) के कारण सभी आत्माएं एक सी है, अत, आत्मा एक है, 'एगे आया"। द्रव्य की, अपेक्षा तथा विशिष्ट गुण पर्याय की दृष्टि से आत्माएँ अन त ह।

उक्त आत्मा के आठ भद विशिष्ट गुण तथा उपाधि को लक्ष्य म रख कर किए गए हैं। अर्थात् द्रव्यात्मा द्रव्य दृष्टि स शेष सात् पर्याय दृष्टि को ले कर भद हुए है।

द्रव्यात्मा—जो असख्य प्रदेशी शाश्वत अमूर्त अरूपी तथा उपयोग गुण से युक्त है वह द्रव्यात्मा है। यह समस्त जीवा म पाया जाता है। क्योकि द्रव्यत्व सभी जोवा म गुण रूप से विद्यमान रहता है।

कषायात्मा—क्रोध आदि चार कषाय से ससश्लिष्ट (युक्त) आत्मा कषायात्मा है। कष+जन्म मरण आय—आगमन, जिससे जन्म मरण की वृद्धि अथवा आत्मा कलुषित—काली हो। यह क्रोधादि उपशान्त तथा क्षीण कषाय जीवा को छोड़कर शेष सभी जीवो मे इसका सदभाव है।

योगात्मा—मन, वचन और काया की प्रवति योग है। अतएव मन आदि योग वाल जीवा के पास योगात्मा हैं। सिद्ध और अयोगी केवली म यह आत्मा नही होता।

उपयोगात्मा—ज्ञान और दर्शन गुण द्वारा आत्मा जानता है। और यहा जानने की क्रिया उपयोग है। जिसमे यह पाई जाय वह उपयोगात्मा है।

यह बद्ध (ससारस्थ) और मुक्त सभी जीवा मे होती है।

ज्ञानात्मा—वस्तु के विशेष धर्म को जानने की शक्ति ज्ञान है, ज्ञान युक्त आत्मा ज्ञानात्मा, है। ज्ञान आत्मा का निज, गुण है अतएव

वह नष्ट नहीं होता किन्तु मिथ्या परिणामों के साहचर्य से अज्ञान बन जाता है। सम्यग्दृष्टि के वही ज्ञान सम्यग—यथार्थ हो जाता है अतः सम्यग्दृष्टि जीव में इस आत्मा का सद्भाव होता है।

दर्शनात्मा—वस्तु के सत्ता जाति आदि सामान्य धर्म का अवबोध (ज्ञान) दर्शन है तथा इस से युक्त आत्मा दर्शनात्मा है। है। आत्मा का निज गुण होने से यह सभी जीवों के होता है।

चारित्रात्मा—जो अनुष्ठान (क्रिया) आत्म मल को (चर) नष्ट करे उसे चारित्र कहते हैं। अर्थात् विरति—त्याग मर्यादा का पालन आचरण चारित्र है। यह आत्मा विरति युक्त जीव में पाया जाता है।

वीर्यात्मा—वीर्य का अर्थ है शक्ति। यह क्रिया भेद से उत्थान, बल कर्म, पुरुषकार तथा वीर्य पांच प्रकार का है। इनमें वीर्य मुख्य है। यह आत्म शक्ति है। इसका प्रमाण शरीर आदि साधन द्वारा होता है अतः यह दो प्रकार का है लब्धि और करण। शक्ति रूप और क्रिया रूप। इस शक्ति से युक्त आत्मा को वीर्यात्मा कहा गया है। संसार के प्रत्येक जीव में शक्ति है—वीर्य है और सिद्ध जीव में केवल लब्धि रूप वीर्य है करण रूप नहीं क्योंकि वहां मन आदि योग नहीं है।

दण्डक चौबीस

सोलहवां बोल

दण्डक से क्या अभिप्राय है ?

जीव के शुभ अशुभ कर्म फल को दण्ड एवं उसके भोगने स्थान को दण्डक कहा गया है। अर्थात जहां रह कर जीव अपने कर्म के फल का अनुभव करता है वह स्थान दण्डक है। ये स्थान चौबीस है—

१–१० दस भवनवासी देवों के दस दण्डक
११ (१) सात नरकों का एक दण्डक
१२–१६ (५) पांच स्थावरों के पांच दण्डक
१७–१९ (३) तीन विकलेन्द्रिय के तीन दण्डक
२० (१) तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक दण्डक
२१ (१) मनुष्य का एक दण्डक
२२ (१) व्यन्तर देवों का एक दण्डक
२३ (१) ज्योतिष्क देवों का एक दण्डक
२४ (१) वैमानिक देवों का एक दण्डक†

[स्था० १/१, भग० १/१ टीका]

परिभाषा

जीव मन आदि योग एवं कषायादि परिणामों द्वारा शुभ अशुभ कर्मों का उपार्जन करता रहता है और वह भी एक समय में

†नेरइया असुराइ ... ।

सत्तारवा बोल

लेश्या किसे कहते है ?

जिससे कर्मो का आत्मा के साथ सम्ब घ हो उसे लेश्या कहते हैं। अथवा आत्मा के शुभ अशुभ परिणाम–लश्या है। यह छह प्रकार के है—[1]

१ कृष्ण लेश्या	२ नील लश्या	३ कापोत लेश्या
४ तेज लेश्या	५ पद्म लेश्या	६ शुक्ल लेश्या

[उत्त० ३४/ प्रज्ञा लेश्या]

परिभाषा

आत्मा म आने वाले कर्म उसके प्रदेशों पर जमा होते हैं तो उन्हें उनके साथ चिपका देने वाली शक्ति लश्या है अथवा जो लेपदे वह लेश्या है। यह शक्ति दो प्रकार से उद्भूत हुई मानी गई है— मन आदि योग से तथा कर्माणुओं कमपुद्गलों से। योग म सकर्म कपाय आदि को उग्र करने तथा प्रत्येक कर्म अणु मे वर्ण गध, रस और स्पर्श की शक्ति विद्यमान रहती है। उसी के द्वारा कर्म मद और तीव्र निधत्त एव निकाचन बनता है।

यह लेश्या स्वरूप दृष्टि से दो प्रकार की है—द्रव्य लश्या और भाव लेश्या। शुभ अशुभ परिणामो म कारण भूत कृष्ण आदि वर्ण वाले पुद्गल द्रव्य लेश्या तथा आत्मा के शुभ अशुभ भाव जो कृष्ण

[1] किण्हा, नीलाय काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कम॥
—उत्त ३४/३

और अपनी प्रशंसा करने वाला होता है तथा संग्राम में मृत्यु की चाह करता है। यह अर्द्धपाशविकी मनोवृत्ति है।

> "शोकाकुल सदा रुष्ट पर निन्दा प्रशंसक।
> संग्राम प्रार्थये मृत्यु, कापोत लेश्या धिको नर ॥

तेजो लेश्या—ताते की चंचु के समान लाल वर्ण वाले कर्मणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले परिणाम। तेजो लेश्या जीव विद्यावान करुणशील तथा कर्तव्य अकर्तव्य के विचार रखने वाला और लाभ व अलाभ में सदा प्रसन्न रहने वाला होता है। यह मानवीयवृत्ति है।

> "विद्यावान करुणायुक्त कार्य कार्य विचारक।
> लाभा लाभे सदाप्रीत, तेजो लेश्या धिको नर ॥"

पद्म लेश्या—हरिताल अथवा हल्दी के समान पीले रंग वाले पुद्गलों के संग से उद्भूत हुए आत्म परिणाम। पद्म लेश्या वाला जीव मितभाषी जितेन्द्रिय, शांतचित, उपशांत कषायी, तथा तपस्वी होता है।

> "क्षमावान निरम्भायी गुरुदेवेषु भक्तिमान।
> शुद्ध चित सदाऽनन्दी पद्म लेश्याधिको नर ॥

शुक्ल लेश्या—शंख अथवा दूध के समान श्वेत वर्ण के कर्म पुद्गल के कारण उत्पन्न हुए शुद्ध विचार अध्यवसाय। शुक्ल लेश्यी जीव आर्त्त-रौद्र जैसे अशुभध्यान का परिहारक तथा धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्याता होता है। वह प्रशान्त चित्त, इन्द्रियजयी, सर्वविरत, तथा अल्पराग व वीतराग होता है।

> "राग द्वेष विनिर्मुक्त, शोक निन्दा विवर्जित।
> परमात्म भाव सम्पन्न, शुक्ल लेश्याधिको नर ॥"

उक्त लेश्या का भाव रूप है, द्रव्य रूप कृष्ण आदि वर्ण वाले पुद्गल हैं तथा विचार इन रंग वाले होते हैं अर्थात् शुभ विचार सुन्दर रंग वाले तो अशुभ विचार कृष्ण आदि क्रूर वर्ण वाले होते हैं। यह निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो सकेगा—

"छह व्यक्तियों ने एक जामुन का वृक्ष देखा। उस पर पके हुए फल लटक रहे थे। फल खाने की इच्छा प्रकट हुई। मिलकर परामर्श करने लगे फल प्राप्त करने का। एक ने कहा वृक्ष पर चढ़ने में तो गिरने का डर है, अस्तु वृक्ष को जड़ से काट डालो और आनन्द से फल खाओ।" दूसरा व्यक्ति बोल पड़ा—ऐसा करने से कोई लाभ नहीं क्या वृक्ष का नाश किया जाए? इसकी बड़ी बड़ी शाखाएं काट लो। तीसरे ने बड़ी शाखाओं की अपेक्षा छोटी २ टहनियां, जिन पर कि फल लगे हुए थे काटने की सम्मति दी। चौथे ने कहा—नहीं, तुम फल के गुच्छों को ही तोड़ो, हमें तो फल की *आवश्यकता है पत्तों और लकड़ियों की तो नहीं।* पांचवें व्यक्ति ने परामर्श दिया कि फलों के गुच्छों को तोड़ने से लाभ नहीं उससे तो कच्चे और अपक्व फल भी नष्ट हो जायेंगे केवल पक्के फल ही तोड़े जाएं। इस पर छठा व्यक्ति बोला—वृक्ष के नीचे गिरे पके फलों को ही क्यों न खा लें?"

उपर्युक्त विचारधाराएं क्रमशः शुभ शुभतर और शुभतम हैं। इसी प्रकार कृष्ण आदि लेश्या विभाग का निकृष्ट रूप तो शुक्ल उत्कृष्ट रूप है।

इसी आधार पर लेश्या के दो भेद किए गए हैं—शुभ अशुभ। प्रथम की तीन कृष्ण नील, कापोत अशुभ हैं अंतिम की तेजो पद्म और शुक्ल शुभ हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में इन्हें धर्म लेश्या भी कहा है। धर्म सुगति तथा अधर्म दुर्गति की दायक मानी गई है।

—उक्त लेश्याओं में जीव क्यों परिभ्रमण करते हैं इसे स्पष्ट करने के लिए जीव के उन छह प्रकार के आत्म परिणामों का वर्णन किया गया जो उसकी प्रवृत्ति, कर्म बंध क्षय आदि में निमित्त हैं परिणाम ही द्रव्य लेश्या (कर्मपुद्गलों) का उपादान कारण है।

नोट —लेश्या के विशेष ज्ञान के लिए देखिए तत्त्व चि ३ भाग।

दृष्टि तीन

अठारहवां बोल

दृष्टि किसे कहते हैं ?

तत्त्व श्रद्धान (विचारणा) को दृष्टि कहते हैं। अथवा जीव के अन्तःकरण की प्रवृत्ति दृष्टि है। यह तीन प्रकार की है—

१ सम्यग् दृष्टि   २ मिथ्या दृष्टि

३ मिश्र दृष्टि †

[ठा० ३।०]

परिभाषा

दृष्टि का सामान्य अर्थ तो देखना अथवा उसकी शक्ति होता है, किन्तु यहां दृष्टि से तात्पर्य अन्तर दृष्टि—तत्त्व विचारणा से है कि तत्त्व के प्रति आत्मा की क्या विचारधारा है। नेत्र दृष्टि तो बाह्य या व्यवहारिक है किन्तु यह अन्तःकरण की रुचि का दिग्दर्शन है।

एक ही वस्तु को भिन्न दर्शक, भिन्न प्रकार से देखता है, किसे ? वस्तु की केवल आकृति को नहीं अपितु उसके स्वरूप को, गुण दोष को। एक उसे हितकारी तो दूसरा अहितकारी एक के लिए वह पूज्य है तो दूसरे के लिए अपूज्य। यह सब आत्मा (जीव) की दृष्टि पर निर्भर है। मनीषियों ने स्थूल रूप में उस रुचि को तीन भागों में बांटा है—सम्यग् मिथ्या और मिश्र।

---

†'सम्यग् मिथ्या दृष्टि'

सम्यग् दृष्टि—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला जीव का सम्यग परिणाम (तत्व रुचि) सम्यग दृष्टि है। सम्यग से अभिप्राय तत्त्व (सत्य) को उसी रूप में ही जानना है।

मिथ्या दृष्टि—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव का अदेव में देव कुगुरु में गुरु अधर्म में धर्म तथा अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि का होना मिथ्यात्व है और इसका यह दृष्टि मिथ्या दृष्टि है।

मिश्र दृष्टि—कुछ सम्यग-कुछ मिथ्या आत्मा की इस अव्यवस्थित दोलायमान रुचि या परिणाम को मिश्र दृष्टि कहते हैं। यहां आत्मा किसी वस्तु पर दृढ निश्चय नहीं कर पाता। इसका आधार भी मोह कर्म ही है।

दृष्टि का आधार दर्शन है यूं तो दर्शन और दृष्टि समानार्थक हो हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो दर्शन आधार और दृष्टि आधेय, तथा दर्शन शक्ति है तो दृष्टि उसका प्रयोग है। आगे दर्शन का आधार या निमित्त कर्म है मिथ्यात्व मोहनीय सम्यग मोहनीय, मिश्रमोहनीय। इनके उपशम क्षयोपशम से सम्यग दर्शन और उदय से मिथ्या दर्शन होता है। इसी का भाव परिणाम मिथ्यात्व सम्यक्त्व तथा आगे उसकी प्रवृत्ति, रुचि सम्यग्-दृष्टि मिथ्या दृष्टि और मिश्र दृष्टि कही गई है। सारांश यह है कि सम्यग परिणाम से वस्तु सत्य और मिथ्या परिणामों से वह मिथ्या हो जाती है।

दृष्टि के आधार पर जीवों के तीन भेद हैं—सम्यग दृष्टि, मिथ्या दृष्टि, मिश्र दृष्टि। जिसकी दृष्टि सम्यग है वह सम्यगदृष्टि

ध्यान चार

उन्नीसवां बोल

ध्यान किसे कहते है ?

मन की शुभ अशुभ चि तना ही ध्यान है। अथवा चित्तवृत्ति का निरोध तथा मन को स्थिर करने केलिए किसी पद गुण आदि का आलम्बन ले मानसिक वृत्तियो का एकाग्र करना ध्यान कहलाता है।

यह चार प्रकार का है—

१ आर्त ध्यान २ रौद्रध्यान
३ धर्म ध्यान ४ शुक्लध्यान

[स्था 4]

परिभाषा

"ध्यान का सामान्य अर्थ 'गौर' है। अ य स्थान या वस्तु से हटा कर मन की वत्तियां का एक वस्तु पर जोडना लगा देना यही गौर है, चिन्तन है। यहाँ मन के साथ शरीर का भी इन्द्रियो का निग्रह करना पडता है यह दो प्रकार है सप्रयत्न और प्रयत्न रहित जिस मे इच्छापूर्वक क्रियानुष्ठान किया जाय वह सप्रयत्न अर्थात चित्त स्थिर करने का अभ्यास करना। दूसरा स्वाभाविक है जो परिस्थिति के अनुसार स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है उस म चित्त के निरोध के लिए प्रयत्न नही करना पडता।

सारांश यह है कि बिना चितकी वृत्तियो के केन्द्रित (एकत्रित) हुए वस्तु चिन्तन नहीं हो सकता अतएव उन्हें एकाग्र करना ही ध्यान है।

पूर्व वर्णित दृष्टि भेद के पश्चात आत्मा के मानसिक विचारों अथवा सामान्य विशेष चिन्ता का कथन हुआ। सम्यग् दृष्टि जीव आर्त्त-रौद्र ध्यान का परिहार करता है केवल धर्म और शुक्ल ध्यान का ही ध्याता होता है। मिथ्यादृष्टि में प्रथम दो अशुभ ध्यानों की बहुलता होती है। मिश्र-दृष्टि का ध्यान दोलायमान रहता है।

छह द्रव्यों के तीस भेद

तीसवाँ बोल

द्रव्य किसे कहते हैं ?

'जिस में गुण और पर्याय हो वह द्रव्य कहलाता है।'

गुण क्या है ?

जो द्रव्य के आश्रित हो अर्थात् जो द्रव्य के प्रत्येक अंश और अवस्था में रहता है वह गुण अथवा द्रव्य में परिणाम जनन की जो शक्ति है वही उसका गुण है। जैसे आत्मा और पुद्गल द्रव्य है इन में अनुक्रम से चेतना आदि तथा रूप आदि अनन्त गुण हैं

पर्याय क्या है ? गुण के विकार को पर्याय कहते हैं अर्थात् जो द्रव्य की तरह सदा स्थिर न रह कर भिन्न २ रूप में होती रहे वह (अवस्था) पर्याय है गुण का परिवर्तन रूप, अथवा 'गुण-जन्य (गुण से उत्पन्न) परिणाम पर्याय कहलाता है।' जिस प्रकार ज्ञान दर्शन उपयोग चेतनागुण के तथा कृष्ण, नील पीत आदि रूप के पर्याय हैं। ये स्थूल पर्याय हैं जिन्हें छद्मस्थ देख सकते हैं इस के सिवाय सूक्ष्म पर्याय अनन्त हैं। 'अनन्त गुणों का अखण्ड समुदाय ही द्रव्य है।' ये द्रव्य छः हैं—

१	धर्मास्तिकाय	२	अधर्मास्तिकाय
३	आकाशास्तिकाय	४	काल
५	जीवास्तिकाय	६	पुद्गलास्तिकाय †

छह द्रव्यों के तीस भेद—

---

† धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो" —उ० अ०

धर्मास्तिकाय के पांच भेद

१ द्रव्य से	एक द्रव्य
२ क्षेत्र से	लोक परिमाण
३ काल से	अनादि अनंत
४ भाव से	अरूपी, अमूर्त*
५ गुण से	गति लक्षण वाला
दृष्टांत	मछली को पानी

अधर्मास्तिकाय के पांच भेद

१ द्रव्य से	एक द्रव्य
२ क्षेत्र से	लोक परिमाण
३ काल से	अनादि अनन्त
४ भाव से	अरूपी, अमूर्त्त
५ गुण से	स्थिति लक्षण
दृष्टांत	पथिक को छाया

आकाशास्तिकाय के पांच भेद

१ द्रव्य से	एक द्रव्य
२ क्षेत्र से	लोक अलोक परिमाण
३ काल से	आदि अन्त रहित †
४ भाव से	अरूपी, अमूर्त्त

*वर्ण गंध, रस, स्पर्श रहित। इसी प्रकार अधर्म, आकाश द्रव्य में जानें।
†अनादि-अनन्त,

५ गुण से — अवकाश, स्थान देना +

दृष्टांत — दूध मे पताशा

काल द्रव्य के पांच भेद

१ द्रव्य से — अनन्त

२ क्षेत्र से — अढ़ाई द्वीप परिमाण ×

३ काल से — अनादि-अनन्त

४ भाव से — अरूपा (वर्णादि चार से रहित)

५ गुण से — वर्तना लक्षण, नये को पुराना पुराना से नया आदि

दृष्टांत—वस्त्र का कचो, नया पुराना वस्त्र।

जीवास्तिकाय के पांच भेद

१ द्रव्य से — अनन्त जीव द्रव्य

२ क्षेत्र से — लोक-परिमाण

३ काल से — आदि अनन्त रहित

४ भाव से — अरूपी, अमूर्त्त

५ गुण से — चेतना लक्षण (गुण)

दृष्टांत—चन्द्र की कला

पुद्गलास्तिकाय के पांच भेद

१ द्रव्य से— पुद्गल अनन्त

+ अवगाहन लक्षण, × चतु, पारकी ढपड, पृ काद, = अढाई।

२ क्षेत्र से लोक परिमाण
३ काल से अनादि अनन्त
४ भाव से रूपी, मूर्त
५ गुण से पूरण गलन गुण †

दृष्टान्त—मिलते बिखरते बादल

परिभाषा

उक्त षट् द्रव्य जैन दर्शन की विश्व को नई देन है। जैन तत्त्व दर्शियों ने ब्रह्माण्ड को षटद्रव्यात्मक स्वीकार किया है। जहाँ ये द्रव्य हों वही लोक है, शेष अलोक। + द्रव्य का अर्थ है द्रवित होना, प्रवाहित होना। द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यम्' अर्थात् जो उत्तरोत्तर क्रमभाव पर्याय को प्राप्त होता रहे वह द्रव्य है। अर्थ द्रव्य, वस्तु सत् तत्त्व पदार्थ ये एकार्थ हैं। द्रव्य दो प्रकार का है अविशेष द्रव्य, विशेष द्रव्य। सामान्य रूप से द्रव्य गुण से एक है, विशेष रूप से द्रव्य जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य रूप है अर्थात् मूल रूप में द्रव्य दो हैं—जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य। अजीव द्रव्य पाँच प्रकार का है। अर्थात्—

यह द्रव्यों में एक जीव है शेष निर्जीव हैं अजीव हैं। जीव अस्तिकाय ही जीव द्रव्य है धर्म अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल अजीव हैं। ये भी अमूर्त हैं काल है प्रथम के पांच अरूपी हैं मात्र पुद्गल ही रूपी (मूर्त) है।

१ अरूपी की कारण वर्ण, गंध रस स्पर्श का अभाव है, वर्ण आदि के सद्भाव (होने पर) में ही पदार्थ मूर्त (रूप) माना गया है।

---

† पनपना सड़ना, विध्वंस हो जाना।

+ धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो। एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।

द्रव्य—वस्तु की अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाश एक एक द्रव्य ही है, तथा काल, जीव और पुद्गल अनन्त है। अर्थात् प्रथम के तीन वस्तु रूप से एक ही है और वही सर्वत्र लोक में अलोक (आकाश की अपेक्षा) में व्यापक हैं, काल, पुदगल तथा जीव भी समग्र लोक में व्याप्त हैं। किन्तु एक द्रव्य से ही नहीं अपितु अनेक द्रव्य की अपेक्षा व्याप्त हैं। अपने गुण लक्षण तथा शक्ति रूप से ये अनन्त द्रव्य एक से ही है किन्तु सत्ता (Existence) की अपेक्षा अनन्त है। प्रथम के तीन सत्ता की दृष्टि से एक २ हैं और सारे लोक में व्याप्त हैं।*

धर्म, अधर्म, काल और जीव सप्रदेशी (प्रदेश सहित) हैं, ये असंख्येय प्रदेशी हैं। काल कहीं अप्रदेशी भी माना जाता है क्योंकि वह समय रूप है और समय अनन्त है वह अस्तिकाय नहीं। आकाश और पुद्गल अनन्त प्रदेशी हैं।

काल के सिवा शेष धर्म आदि द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं। अस्ति का अर्थ प्रदेश और काय का अर्थ है समूह राशि, असंख्यात प्रदेशों का समूह होने से धर्म और अधर्म आदि अस्तिकाय कहे जाते हैं। काल भी प्रदेश रूप है किन्तु वह स्कन्ध रूप न होने से अस्ति

इन द्रव्यों में धर्म आदि पाँच लोकव्यापी है, आकाश लोक अलोक व्यापी है। तथा काल समय क्षेत्र तक।†

धर्म आदि पाच द्रव्य क्षत्री–क्षत्राश्रित हैं तो आकाश क्षेत्र है, क्योंकि ये आकाश प्रदेशों मे अवस्थित हैं, आकाश क्षेत्र रूप है, अन्यो मे बड़ा है। अतएव धर्म अधर्म, जीव तथा पुद्गल आदि आधेय हैं तो आकाश आधार है। निश्चय दृष्टि से सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, अपने आश्रित ही है, व्यवहार दृष्टि से पर प्रतिष्ठित हैं। त्रस और स्थावर जीव का आधार पृथ्वी, पृथ्वी का आधार जल (घनवात तनवात), जल का आधार वायु और उसका आधार आकाश है। आकाश का कोई आधार नहीं। वह सबमे बड़ा है, व्यापक है अत वह अपना स्वय ही आधार है।

ये छह द्रव्य द्रव्य गुण से नित्य तथा अवस्थित हैं, पर्याय से अनित्य, व्यावहारिक दृष्टि से जीव और पुद्गल अनित्य है क्योंकि व्यय, क्षय आदि कम प्रत्यक्ष देखे जाते है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने विशेष गुण मे परिणित होते रहने से परस्पर भिन्न भी है किन्तु सामान्य गुण की अर्थात् द्रव्यत्व अस्तित्व अवस्थितत्व, प्रमेयत्व, आदि की अपेक्षा परस्पर अभिन्न समान हैं।

निश्चय दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य सक्रिय है, गतिरूप है। यह सर्वलोक व्यापी होने के कारण प्रत्येक प्रदेश मे अपनी क्रिया रूप मे अवस्थित हैं अतएव अखण्ड भी हैं किन्तु व्यवहार दृष्टि से जीव और पुद्गल ही सक्रिय हैं, क्योंकि ये प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

धर्म आदि पाच द्रव्य जीव के कारण है—गति, स्थिति, अवगाहन परिवर्तन शरीरादि ग्रहण आदि मे कारण है किन्तु जीव

---

†धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया,
लोगालोगे य आगासे, समए समय खेत्तिए। —उत्त० ३६/

इनका कारण नहीं अस्तु वह अकारण है ।

उक्त छह द्रव्यों के अपने २ कार्य है उपकार, स्वभाव हैं जिससे वे कभी च्युत नहीं होते—धर्म द्रव्य गति मे, अधर्म द्रव्य स्थिति मे आकाश का अवकाश स्थान, काल का वर्तना जीव का परस्पर कार्य में निमित्त होना । (आदेश, शिक्षा आदि से सहयोग देना) तथा पुद्गल का शरीर वाणी, मन, श्वास उच्छ्वास सुख दुःख, जन्म-मरण आदि कार्य हैं । †

धर्मास्तिकाय—गति क्रिया मे परिणत जीव और पुद्गल की गति (एक देश से दूसरे देश मे जाने की क्रिया गति है) में सहायक, माध्यम शक्ति को धर्म द्रव्य कहते हैं ।(The medium of motion) जिस प्रकार मछली के तरने मे सहायक है निमित्त है, [illegible] जीवों और पुद्गल की गति मे निमित्त धर्म द्रव्य है । [illegible] पदार्थों जिनमे कि चलने फिरने की स्वयं शक्ति होती है [illegible] इच्छानुसार गमन करते हैं उन्हें धर्म द्रव्य चलने को [illegible] नहीं करता तथापि बिना इस माध्यम के शक्ति होने पर [illegible] नहीं कर सकते है । रेल के चलने मे पटरी प्रेरणा नहीं [illegible] किन्तु [illegible] बिना चल भी नहीं सकती । यह द्रव्य [illegible] [illegible] [illegible] नित्य तथा अवस्थित और अरूपी है ।

अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल के ठहरने (स्थिति) [illegible]

---

†गइलक्खणो धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं [illegible] नहं ओगाहलक्खणं ॥
"वत्तणा लक्खणो कालो, जीवो उवओग [illegible]
स[illegible]धयार उज्जोओ पभा-छायातवेइ [illegible]
वण्ण [illegible] [illegible] तु लक्खणं ॥

जो माध्यम या निमित्त है वह शक्ति अधर्म द्रव्य है। (The medium of rest or principle of stability)

धर्म गति में तो स्थिति में यह निमित्त है। इसके अभाव में गतिशील द्रव्य सदा गति क्रिया में ही रहेंगे। जिस प्रकार धूप में झुलसे हुए यात्री को वृक्ष छाया देखकर ठहरने की स्वयं रुचि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार स्थिति परिणित पदार्थों के ठहरने में अधर्म द्रव्य निमित्त है।

धर्म द्रव्य की भांति ही अधर्म द्रव्य भी नित्य अवस्थित, अरूपी जड़ अखण्ड तथा सर्व लोकव्यापी एक द्रव्य है। यह भी असंख्यात प्रदेशी है।

आकाश—व्यवहारिक दृष्टि से आकाश का अर्थ पोलार खाली स्थान है, अथवा जो द्रव्य जीव और पुद्गल को स्थान देता है वह आकाश है। (The space) जिस प्रकार दूध के भरे पात्र में पताशा समाविष्ट हो जाता है।

आकाश अन्य सभी द्रव्यों से व्यापक है। इस में जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, काल सभी द्रव्य रहे हुए हैं इसीमें भ्रमण करते हैं, समाये हुए हैं। ये आधेय है और आकाश आधार है। यह भी अमूर्त, नित्य अवस्थित अखण्ड सम्पूर्ण लोकालोक व्यापी तथा अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। यह दो प्रकार का है लोकाकाश, अलोकाकाश। जिस में (अवकाश) धर्म आदि द्रव्यों का अस्तित्व हो वह लोकाकाश तथा जहां इन का अस्तित्व नहीं वह अलोकाकाश है।

काल—वस्तु के स्वयमेव परिणमन-परिवर्तन में सहकारी शक्ति है वह काल। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की प्रतिक्षण होने वाली स्वसत्ता नुभूति वर्तना है इस वर्तना का कारण काल है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वृत्ति वाला है यह वृत्ति प्रतिक्षण रहती है कोई भी क्षण इस वृत्ति के बिना नहीं रह सकता।" यही काल स्वरूप है। निश्चय दृष्टि म वस्तु का अपने मूल रूप को न छोडते हुए प्रतिक्षण उत्पन्न एव विनाश होते रहना, इस का यह परिवतन स्वय है किन्तु निमित्त काल के प्रदेश हैं, अत कहा जाता है समय व्यतीत होने के साथ वस्तु भी जीण हो जाती है। जिस प्रकार एक बालक अपनी बाल्यवस्था से यौवनावस्था एव वृद्धावस्था म परिणत हो जाता है अथवा जसे वस्त्र समय के व्यतीत होने पर जीण शीण हो जाता है या कैंची जसे वस्त्र के स्वरूप को बदलने मे कारण है तो काल भी वस्तु के परिवतन म सहकारी साधन है। यह व्यवहारिक दृष्टि है। यह भी अनन्त समयी, अरूपी, नित्य, अवस्थित तथा सम्पूण लोक मे व्यापक है।

काल के दो भद हैं—निश्चय काल और व्यवहार काल। प्रतिक्षण वस्तु मे परिवतन या क्षणिकत्व निश्चय काल है, तथा वष, मास, दिन, रात, प्रहर घण्टा, मिनट-सकिण्ड (घडी–पल) आदि व्यवहार काल है।

काल का प्रत्यक प्रदश रत्न राशि की तरह एक २ आकाश पर है।

जीवास्तिकाय—चतना लक्षण वाला पदाथ जीव द्रव्य है। आत्मा, जीव पुरुष, आदि एकायवाची हैं। यह द्रव्य अमूत्त, नित्य अवस्थित, असख्यात प्रदेशी एव अखण्ड तथा क्रियाशील है। ज्ञान, दशन तथा उपयोग (सवेदन शक्ति और क्रिया) गुण है। मन, वचन तथा काय योग, एव पर्याप्ति प्राणा का धर्ता, शुभ अशुभ कम का कर्त्ता और उस के फल का भोक्ता है।

जाव दो प्रका[illegible]ारी और सिद्ध। ससार म भ्रमण

करने वाले जीव अथवा कर्म बद्ध जीव संसारी हैं। संसार का अर्थ है बंधन, राग द्वेष मे बंधा जीव संसार—जन्म मरण करता है। सुख-दुःख का अनुभव करना है तथा जो इससे मुक्त है वह मुक्त जीव अथवा सिद्ध कहे जाते हैं। ये शुद्ध बुद्ध एवं निरंजन होते हैं।† (विशेष के लिए देखो दूसरा भाग)

पुद्गलास्तिकाय— पूरण तथा गलन, मिलना और बिखरना पुद्गल का लक्षण है। अर्थात् वह पदार्थ जिस में (शब्द) वर्ण, गंध रस तथा स्पर्श पाया जाता है। यह मूर्त (रूपी) अवयव प्रचय परमाणु स्कंध वाला होता है। 'पुद' का अर्थ पूरण अर्थात् वद्धि तथा 'गल' से गलन यानि ह्रास। पुद्गल सक्रिय है, अनंत प्रदेशी है। जीव के शरीर, वाणी तथा मन का कारण है। सुख दुःख, संयोग, वियोग शब्द, प्रकाश अंधकार स्थूल, सूक्ष्म उष्ण शीत छाया, आदि इस के विशेष धर्म हैं। पुद्गल अणु-परमाणु तथा स्कन्ध रूप है, छः द्रव्यों में मात्र यही रूपी है। माया, अविद्या, कर्म, प्रकृति, कुदरत आदि इसी के ही विभिन्न रूप हैं।

ध्यान के आगे ध्यायमान वस्तु का प्रस्तुत बोल में विधान है धर्म ध्यान एवं शुक्लध्यान के लिए अवलम्बन तथा भेद विज्ञान की अपेक्षा रहती है, अस्तु, 'षट् द्रव्य के तीन भेद में जड-चेतन, वस्तु स्वभाव व स्वरूप सभी का चिंतन समाविष्ट है। अन्यथा इस के अभाव में लोक-स्वरूप' का भान नहीं हो सकेगा।

---

†जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससो उड्ढ गई॥

राशि दो

इक्कीसवाँ बोल

राशि क्या है ?

यहाँ राशि से अभिप्राय 'समूह' से है। 'ढेर' शब्द जड वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ चेतन का भी विधान है। यह दो प्रकार की है—

१ जीव राशि   २ अजीव राशि

[सम २/२]

परिभाषा

तत्त्वदर्शियों ने इस विराट विश्व (लोक) की सभी वस्तुओं को दो भागों में विभक्त किया है जड और चेतन।† यद्यपि यह लोक षट्द्रव्यात्मक है। इसमें जड भी अनेक प्रकार का तो चेतन भी भांति २ के दिखाई पड़ते हैं अतएव उनका एक एक समूह कर दिया गया। जितने भी चेतन हैं सूक्ष्म स्थूल, त्रस स्थावर, सिद्ध-संसारी जीव सबका समावेश जीव राशि में हो जाता है। इसी प्रकार जड मूर्त अमूर्त (रूपी अरूपी) प्रदेश प्रचय, अवयव प्रचय यानि वर्ण, गंध, रस, स्पर्श युक्त, तथा सूक्ष्म, स्थूल, समस्त अजीव द्रव्य का अन्तर्भाव अजीव राशि में कर दिया गया।

"†लोगे तं सव्वं दुप्पडोआरं, जीवा चेव अजीवा चेव।" —स्था० २ स्था०

जीवराशि—चेतना, उपयोग लक्षण वाला द्रव्य जीव है। उन सबका समूह यानि जीव समूह जीवराशि है। जीव दो प्रकार के है बद्ध और मुक्त, सकर्म तथा कर्म रहित, इन सभी चेतनामय शक्तियों का समावेश जीवराशि में हो जाता है।

अजीव राशि—अ+जीव, जीव नही है जो वह अजीव है अथवा जड लक्षण वाला अजीव है। यह दो प्रकार का है, मूर्त (रूपी) अमूर्त (अरूपी) धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, आदि सब का समावेश अजीव राशि मे है।

यहा राशि का विभाग वस्तु के सामान्य धर्म (मूलगुण) के आधार पर हुआ है चेतना गुण वाले जितने द्रव्य हैं उनका एक समूह जड लक्षण वाला का दूसरा।

प्रस्तुत बोल में पूर्व कथित षट द्रव्य का संक्षिप्त ज्ञान, दृश्यमान वस्तु जगत के परिज्ञान के लिए उसे दो भागो मे विभाजित कर दिया गया है और वह विभाग वस्तु अनेक होने से 'राशि' के नाम अभिहित हुआ है। अर्थात् लोक में मूल दो ही तत्त्व हैं जो सृष्टि के मूलाधार है—जीव और अजीव।

श्रावक के बारह व्रत

बाईसवां बोल

व्रत किसे कहते हैं ?

व्रत का अर्थ है विरति, त्याग नियम। हिंसा, असत्य आदि पापों से विरत—अलग होना विरति व्रत है।‡ ये अहिंसा आदि बारह व्रत हैं—पांच अणुव्रत तीन गुण व्रत, चार शिक्षा व्रत।

पांच अणुव्रत

१ स्थूल प्राणातिपात विरमण	व्रत
२ स्थूल मृषावाद विरमण	,,
३ स्थूल अदत्तादान विरमण	,,
४ स्वदार सन्तोष	,,
५ परिग्रह परिमाण	,,

तीन गुण व्रत

६ (१) दिशा परिमाण	व्रत
७ (२) उपभोग परिभोग परिमाण	,,
८ (३) अनर्थ दण्ड विरमण	,,

‡ "हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"—तत्त्वार्थ सूत्र ७/

चार शिक्षा व्रत

९ (१) सामायिक व्रत
१० (२) देशावकाशिक "
११ (३) पौषध "
१२ (४) अतिथि संविभाग "

[स्था० ? अ० ?

परिभाषा

जीवन को शुद्ध करने के लिए इसमें ज्ञान, विश्वास, और आचार की परमावश्यकता होती है। इसे ही धर्म शास्त्र में चारित्र के नाम से पुकारा गया है। चारित्र का अभिप्राय है अशुभ से निवृत्ति शुभ में प्रवृत्ति। अर्थात् वह क्रियानुष्ठान जो अष्टविध कर्मों का (चर) नष्ट करता है।

चारित्र नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है, व्यक्ति की इच्छाओं का परिमित एवं सीमित करता है, संवर का कारण है, मोक्ष का मार्ग है। पुरुषार्थ रूप होने से क्रियानुष्ठान कहलाता है।

चारित्र के दो भेद—अगार चारित्र, अणगार चारित्र। ? अगार का अर्थ घर अर्थात् विश्राम से है, उपलक्षण से गृहस्थ का (घर में रहने वाले का) चारित्र अणगार 'अगारा यस्य न विद्यते स अणगार' "घर में न रहने वाले अर्थात् साधु का चारित्र अणगार चारित्र कहलाता है। अनुपालन की दृष्टि से गृहस्थ का चारित्र आंशिक होने से देश विरति और साधु का पूर्ण होने से सर्वविरति

१ देशविरति चारित्र सर्वविरति चारित्र

स्थूल प्राणातिपात—निरपराध त्रस जीवों के प्राण हनन का त्याग उससे निवृत होना। स्थूल=मोटे रूप में प्राण + अतिपात= प्राणियों के प्राणों का हनन, विरमण=उपरत, अलग होना।

स्थूल मृषावाद विरमण—कन्या, गाय आदि पशु, भूमि, तथा धरोहर सम्बन्धी असत्य का जो कि स्थूल असत्य है, इस से जगत में अप्रतीति तथा, प्रमाणिकता नष्ट हो जाती है। अपमान का भय रहता और व्यवहार अशिष्ट होता है।

स्थूल अदत्तादान विरमण—अदत्त=बिना दी हुई, वस्तु आदान=ग्रहण करना, स्थूल चोरी का त्याग। वह चौर्य कर्म जिसके आचरण से समाज में अपमान, राज्य में दण्ड प्राप्त हो, का त्याग करना और छोटी चोरी से बचने का प्रयत्न करना अदत्तादान विरमण व्रत है। यह चार प्रकार का है—ताला तोड़ना, सेंध लगाना, ध्यान रखना वस्तु उठाकर लेजाना, मार्ग में चलते हुए को लटना।

स्वदारा संतोष परिणाम व्रत— पुरुष स्वपत्नी, नारी स्वपति के सिवा मिथुन भाव का त्याग। इस संतोष व्रत से विकारों का दमन होता है, जीवन में पवित्रता, प्रामाणिकता की उपलब्धि होती है मन मातृ, भगिनी पितृ पुत्र भाव में प्रवृत्त रहता है। वासना से विलग रहने का अभ्यास ही इस व्रत का उद्देश्य है।

परिग्रह परिमाण व्रत सचित अचित परिग्रह का अर्थात् धन धान्य का चाँदी-स्वर्ण सम्पत्ति, दास, दासी, पशु पक्षी आदि का परिमाण—मर्यादा करना। ममता का परिहार ही जीवन है।

देशावकाशिक—दिशा परिमाण व्रत की ग्रहण की दिशा मर्यादा से उस (दिशा) और कम करना। तथा उपभोग वस्तु का अधिक नियम करना। अथवा सवर करना प्रति दिन अथवा एक दिन के लिए पूर्ण दिशागमन आदि आश्रव का त्याग करना त्याग का आचरण करना देशावकासिक व्रत है।

सामायिक—एक मुहूर्त के लिए मन वचन, काय द्वारा साव (पाप) योगो का सर्वथा त्याग कर मनोवृत्ति को सम भाव मे लो करने का अभ्यास करना।

पौषध-उपवास—एक दिन रात (आठ प्रहर) के लि चार आहार, आभूषण, पुष्प माला आदि सचित्त पदार्थ, परिग्रह त सावद्य योग का त्याग करना धर्मध्यान, आत्म चिन्तन करना।

अतिथि सविभाग—जिस के आने की निश्चित तिथि (वस नहीं है, ऐसा व्यक्ति साधु माहण, श्रावक अथवा सदाचारी पु को उसकी वृत्ति के अनुसार निर्दोष अपने भोजन मे से विभ कर देना, अथवा साधु वर्ग को चौदह प्रकार की निर्दोष व का निष्काम भाव से दान देना या भावना बनाये रखना अति सविभाग है।

प्रस्तुत बोल मे अजीव और जीव के आदि अन्त सम्बन्ध या कर्म को दूर करने, आत्मा के शुद्धि करण के उपाय का निर्देश है क्योंकि जीव निज स्वभाव का त्याग एव पर स्वभाव के ग्रहण कारण मलिन बना हुआ है। अतएव पुन निजस्वभाव मे लीन होने प्रयत्न ही व्रत आदि है।

साधना की दृष्टि से यह सब विरति, देश विरति भेद से प्रकार । है। पहला श्रमण, दूसरा श्रावक का है।

श्रमण के पांच महाव्रत

तेईसवां पाठ

महाव्रत किसे कहते हैं?

सर्व विरति रूप त्याग महाव्रत है। अथवा श्रावक के अणुव्रत की अपेक्षा में जो महान व्रत है वह श्रमण का व्रत महाव्रत कहलाता है। 'देशसर्वतोऽणुमहती' अर्थात् अल्प अंश में विरति अणुव्रत और सर्वांश में विरति महाव्रत है। ये पांच हैं—

१ प्राणातिपात विरमण महाव्रत

२ मृषावाद विरमण ,,

परिभाषा

पहले बताया जा चुका है कि श्रावक का चारित्र देशविरति है अतएव अणुव्रत है किन्तु साधु का सर्व विरति चारित्र पूर्ण महान होता है इसलिए उसे महाव्रत कहा गया है। साधु का पर्यायवाची श्रमण भी है। जिसका अर्थ है अहिंसा संयम तप आदि अनुष्ठान में श्रम–पुरुषार्थ, प्रगति करने वाला "श्राम्यतीति श्रमणः"

श्रावक और श्रमण दोनों मोक्ष मार्ग के पथिक हैं, साधक हैं दोनों का लक्ष्य, उद्देश्य एक है। पहले की साधना मन्द है, दूसरे की उग्र है किन्तु गन्तव्य स्थान एक ही है। एक का संयम है, दूसरे का संयमासंयम है। श्रावक चारित्राचारित्री तो श्रमण चारित्री है।

हिंसा, असत्य चोरी व्यभिचार (अब्रह्मचर्य) और परिग्रह ये पांच प्रसिद्ध पाप हैं, साधु इनसे सर्वथा और सर्वदा विलग रहता है। वह मन वचन और काया द्वारा स्वयं हिंसा प्राणी वध न करने, न करवाने तथा करते हुए की अनुमोदना न करने की प्रतिज्ञा करता है। इसी प्रकार असत्य आदि का भी।

यह प्रतिज्ञा तीन करण– कृत कारित और अनुमति, तथा तीन योग' मन वचन और काया से होती है। प्रतिज्ञा में किञ्चित भी भंग—विकल्प नहीं है, विश्राम नहीं है। इस लिए यह प्रतिज्ञा महाव्रत कहलाती है। श्रावक की प्रतिज्ञा भंग—विकल्प पूर्वक होती होती है, वह तीन करण तीन योग से नहीं होती अतः अणुव्रत कहाती है।

त्रस स्थावर सूक्ष्म स्थूल सापराध निरपराध प्राणी को किसी प्रकार का त्रास न पहुंचाना मन से वचन से काया से न स्वयं, न

चोवीसवाँ बोल

भाग से क्या अभिप्राय है ?

भांग का अर्थ है भग अर्थात विकल्प, विभाग एवं विभाग रूप रचना। प्रत्याख्यान का विभिन्न अंशो में ग्रहण करना भग का रचना विभाग है। ये उनचास हैं—

(१) अंक ११ का, भाग नव—एक करण, एक योग से कहना

१ करू नहीं मन से	२ करू, नहीं, वचन से
३ करू नहीं काया से	४ कराऊ नहीं, मन से
५ कराऊ नहीं, वचन से	६ कराऊ नहीं, काया से
७ अनुमोदू नहीं, मन से	८ अनुमोदू नहीं वचन से

९ अनुमोदू नहीं, काया से।

(२) अंक १२ का, भाग नव—एक करण, दो योग से कहना

१ करू नहीं, मन से, वचन से

२ करू नहीं, मन से, काया से

३ करू नहीं, वचन से, काया से

४ कराऊँ नहीं, मन से, वचन से
५ कराऊँ नहीं, मन से, काया से
६ कराऊँ नहीं, वचन से, काया से
७ अनुमोदूं नहीं, मन से, वचन से
८ अनुमोदूं नहीं, मन से, काया से
९ अनुमोदूं नहीं, वचन से, काया से

(३) अंक १३ का, भांगे तीन एक करण, तीन योग से कहना
१ करूं नहीं, मन से, वचन से, काया से
२ कराऊं नहीं, मन से, वचन से, काया से
३ अनुमोदूं नहीं, मन से, वचन से, काया से

(४) अंक २१ का भांगे नव-दो करण, एक योग से कहना।
१ करूं नहीं, कराऊं नहीं, मन से
२ करूं नहीं, कराऊं नहीं, वचन से
३ करूं नहीं, कराऊं नहीं, काया से
४ करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से
५ करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं, वचन से
६ करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं, काया से
७ कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से
८ कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, वचन से
९ कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, काया से

(५) अंक २२ का भाग नव-दो करण दो योग से कहना ।

१ करू नहीं, कराऊ नहीं, मन से, वचन से
२ करू नहीं, कराऊ नहीं, मन से, काया से
३ करू नहीं, कराऊ नहीं वचन से, काया से
४ करू नहीं अनुमोदू नहीं, मन से, वचन से
५ करू नहीं, अनुमोदू नहीं, मन से, काया से
६ करू नहीं, अनुमोदू नहीं, वचन से काया से
७ कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, मन से, वचन से
८ कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, मन से, काया से
९ कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, वचन से काया से

(६) अंक २३ का भाग तीन-दो करण तीन योग से कहना ।

१ करू नहीं, कराऊ नहीं, मन से, वचन से, काया से
२ करू नहीं, अनुमोदू नहीं, मन से, वचन से, काया से
३ कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, मन से, वचन से, कायासे

७ अंक ३१ का भागे तीन तीन करण एक योग से कहना

१ करू नहीं, कराऊ नहीं अनुमोदू नहीं, मन से
२ करू नहीं, कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, वचन से
३ करू नहीं, कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, काया से

(८) अंक ३२ का, भाग-तीन करण दो योग से कहना ।

१ करू नहीं, कराऊ नहीं अनुमोदू नहीं, मन से वचन से

२ करू नहा, कराऊ नहीं अनुमोदू नहीं, मन से काया से
३ करू नहीं, कराऊ नहीं, अनुमोदू नहीं, वचन से काया से
(१) अब ३३ का भाग एक तीन करण तीन योग से कहना
१ करू नहा, कराऊ नहीं अनुमोदू नहा, मन से वचन से कायासे
[आ]

परिभाषा

प्रस्तुत थोक म व्रत, नियम, आदि ग्रहण की विधि रूप रचना का उल्लेख है। प्रत्येक नियम का ग्रहण तथा अनुपालन तीन तीन प्रकार स होता है--मन वचन और काया, एव कृत कारित अनुमति (करना, करवाना तथा करत हुए को भला समझना)। ये योग और करण के नाम म पुकारे जात हैं।

यह अनिवार्य नहीं कि प्रत्येक नियम हरएक व्यक्ति द्वारा तीन योग और तीन करण स ग्रहण किया जाए। कोई दो करण तीन योग से, तो कोई एक करण तीन योग से, आदि।

यही विकल्प है भग है। यह पद्धति आंशिक है, तीन करण तीन योग से ग्रहण किया पूर्ण है। अतएव उपयुक्त ४९ भाग इसी आधार पर हैं तथा उन म स अंतिम ४९वा पूर्ण है, एक है। क्योंकि नव कोटिक है। श्रमण पूर्ण रूप म ग्रहण करता है, उसमे कोई विकल्प नहीं है। शेष ४८ गृहस्थ के हैं जो शक्ति के अनुसार ही किये जाते हैं क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अध्यवसाय भिन्न होने हैं तथा उन्ही परिणामों की तरतमता के कारण ही नियम ग्रहण के इतने विकल्प हुए हैं।

उक्त विभाग रूप रचना (अग) क सुगम ज्ञान के लिए अकों का उल्लेख किया है। य अक योग और करण को मिलाकर हुए हैं, जसे कि अक ११ ता एक करण और एक योग स अभिप्राय है। इसी प्रकार अक १२ का एक करण दो योग का अर्थ है। आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिए। इसमें पहला करण और दूसरा अक योग का होता है जसे कि अक १२ का १ करण, २ योग।

पूर्व बोल (१–२३) म जो बारह व्रत और पाँच महाव्रतों का कथन है, उन्हे ग्रहण करना जन धर्म म पच्चक्खाण या प्रत्याख्यान कहा जाता है। अनिष्ट का परिहार–निषेध और इष्ट का मन आदि योगों द्वारा ग्रहण और पालन का स्वीकार ही 'पच्चक्खाण' का भाव है।

आचारांग आदि अग शास्त्रों म न परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का उल्लेख है। पहली परिज्ञा (बुद्धि) स वस्तु स्वरूप को जानना तथा दूसरी से हेय–त्यागने योग्य (वस्तु) का त्याग करना प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान प्रतिज्ञा करने स होता है। किसी भी वस्तु को छोडने और ग्रहण करने के लिए तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है अतएव उपर्युक्त भांगे प्रतिज्ञा के स्वरूप हैं कि किस हेय का कसे त्याग किया जाता है।

भांगों से प्रत्याख्यानी की परिस्थिति, प्रकार और वस्तु स्वरूप का ज्ञान स्पष्ट होता है।

स्वभाव रूप में नहीं होता, मैं जड़ धर्म के संगम से जड़वत बना हुआ जन्म मरण, सुख दुःख का अनुभव करता हुआ भ्रमण करता है। ऐसे आत्मा को अपनी शुद्ध अवस्था स्थिर रखने का जो प्रयत्न है वह चारित्र है। अथवा चय-समूह रितकर-रिक्त-खाली करना, नष्ट करना चारित्र अर्थात कर्मसमूह का नष्ट करना ही चारित्र कहलाता है। 'चयरित्त करं चारित्तं'

क्रियानुष्ठान की दृष्टि से अशुभ प्रवृत्ति या कर्म से निवृत्त होना और शुभ कर्म में प्रवृत्त होना चारित्र कहलाता है।

"असुहादो विणिवित्ति-सुह पवित्ती य जाण चरित्त।"

चारित्र संवररूप है वह नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है पुरातन कर्मों का क्षय भी होता है। अन्य शब्दों में चारित्र आत्म शुद्धि का उपाय है वह जीवन का धर्म है जो मनुष्य को मन, वाणी एवं शरीर क्रियाओं को शुभ, मर्यादित तथा नैतिक रूप देता है। इसे ही आचार धर्म कहा गया है। विचार, उच्चार और आचार तीनों का सामूहिक अर्थ ही चारित्र है।

पूर्व वर्णित विरति रूप परिणामों की शुद्धि की तरतमता के आधार पर चारित्र पांच प्रकार है—

सामायिकचारित्र अशुभ मन आदि सब सावद्य (पाप युक्त) योगों का सब प्रकार से त्याग तथा निरवद्य (पाप रहित) व्यापार का आचरण करना सामायिक है, अथवा ज्ञान दर्शन और चारित्र एवं समभाव की राग-द्वेष रहित साधना सामायिक चारित्र है।

यह दो प्रकार है—इत्वरिक और यावत्कथिक। थोड़े समय के लिए हो तथा जिसे पुनः ग्रहण किया जाय वह 'इत्वरिक है, जीवन पर्यन्त का सामायिक चारित्र यावत्कथिक है। अर्थात मुनि

करते हैं, वे अनुपारिहारिक कहलाते हैं और अन्तिम एक कल्पस्थित (गुरुरूप म) रहता है। कल्पस्थित के पास ही वे पारिहारिक और अनुपारिहारिक आलोचना व दना, प्रत्याख्यान आदि करते हैं।

छह मास क बाद अनुपारिहारिक परिहारिक हो जाते हैं और व अनुपारिहारिक । वे भी इसी प्रकार छह मास तप दूसर सेवा और वह कल्पस्थित रहता है । उनके तपश्चरण क पश्चात कल्पस्थित मुनि तप का आचरण करता है। इस तप विशेष म अठारह मास का समय लगता है।

इस प्रकार के विशिष्ट तप आचरण का क्रम ऋतु के अनुसार निम्न रूप मे रहता है—ग्रीष्म ऋतु म जघन्य एक उपवास, मध्यम बेला, उत्कृष्ट तीन उपवास। शिशिर ऋतु में जघन्य दो मध्यम तीन, अधिक चार उपवास करत ह। वर्षाकाल म जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाँच उपवास होत हैं । कल्पस्थित और अनुपारिहारिक नित्य आयंबिल तप करत हैं।

इस परिहार तप के पूर्ण होने पर व फिर भी इसी का आचरण करने लगते हैं या जिनकल्प को ग्रहण कर लेते हैं । यदि नही ता पुन गच्छ में आ मिलते हैं।

सूक्ष्म-सम्पराय— वह चारित्र जिस मे व्यक्ति के क्रोध आदि कषायो का उदय तो नही आता पर लोभ का अति सूक्ष्म अ श रहता है। सूक्ष्म का अर्थ है स्वल्प आंशिक तथा सम्पराय का अर्थ है कषाय का अ श।

यह भी दो प्रकार या विशुद्धयमान और सक्लिश्यमान। दशम गुणस्थानवर्ति जोव के क्षपक एव उपशम श्रेणी पर चढते हुए परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध होते हैं उसका चारित्र विशुद्धयमान है तथा उपशम श्रेणी से अवरोहक जाव क परिणाम सक्लेश युक्त होने स

सक्लिदयमान सूक्ष्मसम्पराय चारित्र है।

यथाख्यात—कषाय रहित जीव का-बाहरवे गुणस्थानवर्ती या तरहवें गुणस्थानीय जीव का पूर्ण चारित्र यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र वीतराग चारित्र है। पात्र की अपेक्षा यह चारित्र दो प्रकार का है—सयोगी केवली यथाख्यात और अयोगी केवली यथाख्यात चारित्र आदि।

प्रस्तुत बोल में चारित्र का विधान कर यह स्पष्ट किया है कि श्रमण के व्रतों में चारित्र में किसी प्रकार का विकल्प अथवा विश्राम नहीं होता। उसे पूर्ण रूप में ही ग्रहण किया जाता है। यहाँ उसी (स्वरूप) का व्याख्यान है, किन्तु गृहस्थ का आंशिक होता और वह भी आगार सहित व्रत उस के लिए भिन्न—विविध, ग्रहण पद्धति है।